

# गांधी-मार्ग

अहिंसा-संस्कृति का द्वैमासिक  
वर्ष 54, अंक 1, जनवरी-फरवरी 2012



गांधी शांति प्रतिष्ठान



|   |                   |    |
|---|-------------------|----|
| 1. मेरे दिल को चीर कर देखें                     | गांधीजी           | 3  |
| 2. कुछ समझाती और लजाती तस्वीरें                 | कुमार प्रशांत     | 10 |
| 3. विज्ञान ठहर सकता है, स्वराज नहीं             | कृष्ण कुमार मिश्र | 14 |
| 4. भोग और विलास का रोग                          | सोपान जोशी        | 19 |
| 5. ऐसे भी बने हैं तालाब                         | योगेश अनेजा       | 23 |
| 6. चना जोर गरम                                  | मंजू देवी         | 29 |
| 7. पुराना चावल: एक ही प्रश्न: हिंसा             | आचार्य राममूर्ति  | 32 |
| 8. पोथी पढ़ि पढ़ि: बेटे ने दूसरा ही रास्ता चुना | सुशीला नैय्यर     | 46 |
| 9. टिप्पणियां                                   |                   | 54 |
| 10. पत्र  |                   | 59 |

वार्षिक शुल्क : भारत में 100 रुपए, दो वर्ष का 190 रुपए, आजीवन-500 रुपए (व्यक्तिगत), 1000 रुपए (संस्थागत) एक प्रति का मूल्य बीस रुपए, डाक खर्च निःशुल्क। दो माह तक न मिलने पर शिकायत लिखें। शुल्क बैंक ड्राफ्ट, मनीआर्डर द्वारा 'गांधी शांति प्रतिष्ठान' के नाम भेजें।

संपादन : अनुपम मिश्र, सज्जा : दिलीप चिंचालकर, प्रबंध : मनोज कुमार झा

गांधी शांति प्रतिष्ठान, 223 दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-2 के लिए अनुपम मिश्र द्वारा प्रकाशित

फोन : 011-2323 7491, 2323 7493, फैक्स : 011-2323 6734

Email: gmhindi@gmail.com

मुद्रक : अशोक प्रिंटिंग प्रेस, 2810 गली माता वाली, चांदनी चौक, दिल्ली-06, फोन नं.011-23264968

# मेरे दिल को चीर कर देखें

गांधीजी

ऐबटाबाद शहर पिछले दिनों हिंसा और आतंकवाद की वजह से खूब खबरों में रहा है। यहीं पर अमेरिका और पाकिस्तान के संबंध में खटास आना शुरू हुआ है। हिंसा प्रतिहिंसा का, कटुता का गढ़ बन गया है ऐबटाबाद। लेकिन यह बात आज ध्यान से हट गई है कि पाकिस्तान का यह शहर एक समय बादशाह खां के खुदाई खिदमदगारों का भी गढ़ था। आज से 73 बरस पहले यहां गांधीजी आए थे। तब उन्होंने यहां कुछ खरी-खरी बातें भी की थीं और लोगों को फख्र-ए-अफगान यानी बादशाह खान के साथ सबसे मजबूत हथियार, अहिंसा का हथियार उठाकर चलने की सलाह दी थी। गांधीजी ने उस समय जो कुछ कहा उसे हम सबको आज और ध्यान से पढ़ना चाहिए।

**आपने** मुझे जो मानपत्र भेंट किया, उसके लिए मैं आप सबका आभारी हूँ। अपने मानपत्र में आपने अपने यहां 'विश्व के महानतम व्यक्ति' के पदार्पण पर अपनी प्रसन्नता प्रकट की है। आपका मानपत्र सुनते समय मेरे मन में यह सवाल घूमता रहा कि आखिर वे सज्जन हैं कौन। निस्संदेह, मैं तो नहीं हो सकता! मुझे अपने दोष भली-भांति मालूम हैं।

एथेंस के महान दार्शनिक सोलन के विषय में एक कथा प्रचलित है: विश्व के सबसे धनाढ्य व्यक्ति के रूप में विख्यात क्रीसस ने उनसे पूछा, संसार का सबसे सुखी व्यक्ति कौन है। क्रीसस ने सोच रखा था कि सोलन कहेंगे, आप ही वे सुखी व्यक्ति हैं। मगर सोलन ने कहा कि मैं कुछ नहीं कह सकता, क्योंकि किसी के अंतकाल से पहले यह कैसे कहा जा सकता है कि वह सुखी है। अगर सोलन को किसी व्यक्ति के जीते-जी उसके सुखी होने या न होने के संबंध में

निर्णय देना कठिन लगा तो जरा सोचिए कि किसी व्यक्ति की महानता के बारे में कोई फतवा देना कितना कठिन है। सच्ची महानता ऊंचाई पर स्थापित कोई ऐसी प्रतिमा नहीं है जिसे लोग आसानी से देख लें। मेरा सत्तर वर्षों का अनुभव

**बढ़ा-चढ़ाकर यशोगान करने वाले मानपत्र भेंट करने की आदत आप हमेशा के लिए छोड़ दें, यही मैं चाहूंगा। अब इस सत्तर साल की उम्र में कम-से-कम मैं तो नहीं चाहूंगा कि ईश्वर ने मुझे जो थोड़ा बहुत समय और दिया हो, उसे इस तरह के निरर्थक आडंबरों में बर्बाद कर दिया जाए। अगर मानपत्र दिया ही जाना हो तो मैं चाहूंगा कि उसमें सम्मानित व्यक्ति के दोषों और त्रुटियों का वर्णन किया जाए, ताकि वह अपने अंतर में झांककर देखने और उन दोषों और त्रुटियों को निकाल बाहर करने को प्रेरित हो सके।**

तो मुझे यह बताता है कि अकसर वास्तव में महान लोग तो वे होते हैं जिनके बारे में और जिनकी महानता के संबंध में संसार उनके जीवन-काल में कुछ नहीं जानता। सच्ची महानता का पारखी तो केवल ईश्वर है, क्योंकि वह मनुष्य के हृदय को पहचानता है।

ऐबटाबाद के निवासी ही नहीं, यहां का सूर्य, चंद्र और यहां के तारे भी मेरी एक झलक पाने को लालायित थे। भाइयो, तो क्या मैं यह मानूं कि आपके नगर के लिए कोई खास सूर्य और चंद्रमा तथा तारे हैं, जो वर्धा या सेगांव में नहीं चमकते? हमारे यहां काठियावाड़ में भाट नाम की एक जाति है। इस जाति के लोग पेशेवर चारण हैं, जिनका धंधा पैसा पाने के लिए अपने-अपने सरदारों की प्रशस्ति करना है।

खैर, मैं आपको भाट तो नहीं कहूंगा। अगर किसी का उपहास करना चाहें तब तो बात अलग है, लेकिन वैसे मैं चाहूंगा कि आप अपने नेताओं की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करने की गलती को जरा समझें। इससे न उन्हें कोई लाभ होता है और न उनके काम में ही कोई

सहायता मिलती है। इसलिए इस तरह बढ़ा-चढ़ाकर यशोगान करने वाले मानपत्र भेंट करने की आदत आप हमेशा के लिए छोड़ दें, यही मैं चाहूंगा। अब इस सत्तर साल की उम्र में कम-से-कम मैं तो नहीं चाहूंगा कि ईश्वर ने मुझे जो थोड़ा बहुत समय और दिया हो, उसे इस तरह के निरर्थक आडंबरों में बर्बाद कर दिया जाए। अगर मानपत्र दिया ही जाना हो तो मैं चाहूंगा कि उसमें सम्मानित व्यक्ति के दोषों और त्रुटियों का वर्णन किया जाए, ताकि वह अपने अंतर में झांककर देखने और उन दोषों और त्रुटियों को निकाल बाहर करने को प्रेरित हो सके।

जबसे इस प्रांत में आया हूं, तभी से मैं खुदाई खिदमतगारों को अहिंसा का

सिद्धांत— संपूर्ण और शुद्ध अहिंसा-सिद्धांत— समझाने की कोशिश करता रहा हूं। मैं अहिंसा के मर्म को पूर्ण रूप से समझने का दावा नहीं करता। जितना-कुछ मैं समझ पाया हूं वह तो उस संपूर्ण का, उस महान वस्तु का एक अंशमात्र है। अहिंसा के संपूर्ण मर्म को समझना या उसका पूरा-पूरा आचरण करना मनुष्य के बस की बात नहीं है, क्योंकि वह तो स्वयं ही अपूर्ण है। यह तो केवल ईश्वर का ही गुण है, उस परम शास्ता का जिससे बड़ा सृष्टि में कोई नहीं है। लेकिन मैं आधी सदी से अधिक समय से इसे समझने और इसे अपने जीवन में उतारने का सतत प्रयास करता रहा हूं।

इसमें संदेह नहीं कि खुदाई खिदमतगारों ने अहिंसा को जिस हद तक समझा है, उस हद तक उसका आचरण करने का ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसने उन्हें सबकी प्रशंसा का पात्र बनाया है। लेकिन अब उन्हें एक कदम और आगे जाना है। अपनी अहिंसा की अवधारणा को उन्हें अधिक व्यापक बनाना है और अगर उन्हें अंतिम अग्नि-परीक्षा में सफल होकर निकलना है तो अहिंसा के आचरण में— विशेषकर उसके विधायक पहलुओं के आचरण में— और अधिक पूर्णता और गहराई लानी है।

अहिंसा का मतलब केवल शस्त्र-त्याग नहीं है। यह कोई कमजोरों और नपुंसक लोगों का भी हथियार नहीं है। लाठी उठाने में असमर्थ कोई बच्चा तो अहिंसा का आचरण नहीं करता। सारे शस्त्रास्त्रों से अधिक सशक्त और सक्षम अहिंसा संसार में एक अद्भुत शक्ति के रूप में अवतरित हुई है। जिसने यह अनुभव करना नहीं सीखा है कि यह पशुबल की अपेक्षा लाख गुनी अधिक सक्षम शक्ति है, उसने इसके सच्चे स्वरूप को नहीं पहचाना है।

इस अहिंसा की शक्ति को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसकी ज्योति तो हमारे हृदय में ही जल सकती है और वह ज्योति जलेगी तब जब हमारी उत्कट प्रार्थना के परिणामस्वरूप हमें भगवत्कृपा प्राप्त होगी।

कहते हैं, आज एक लाख खुदाई खिदमतगार ऐसे हैं, जिन्होंने अहिंसा को अपने धर्म-रूप में स्वीकार किया है। लेकिन इनसे बहुत पहले, 1920 में ही खान

**अहिंसा का मतलब केवल शस्त्र-त्याग नहीं है। यह कोई कमजोरों और नपुंसक लोगों का भी हथियार नहीं है। लाठी उठाने में असमर्थ कोई बच्चा तो अहिंसा का आचरण नहीं करता। सारे शस्त्रास्त्रों से अधिक सशक्त और सक्षम अहिंसा संसार में एक अद्भुत शक्ति के रूप में अवतरित हुई है। जिसने यह अनुभव करना नहीं सीखा है कि यह पशुबल की अपेक्षा लाख गुनी अधिक सक्षम शक्ति है, उसने इसके सच्चे स्वरूप को नहीं पहचाना है।**

साहब ने अहिंसा को संसार के सबसे अधिक कारगर हथियार के रूप में जान लिया था और तभी उन्होंने इसे अपना भी लिया था। अहिंसा के अठारह वर्षों के आचरण से इसमें उनकी श्रद्धा और भी सुदृढ़ ही हुई है। उन्होंने खुद देखा है कि इसने उनके लोगों को किस प्रकार निर्भीक और सबल बना दिया है। अपनी छोटी-मोटी नौकरियां खो बैठने की आशंका से ही पहले वे घबरा जाते थे। लेकिन आज वे कुछ और ही महसूस करते हैं।

सत्तर साल की इस अवस्था में अहिंसा में स्वयं मेरी श्रद्धा आज इतनी प्रबल है, जितनी पहले कभी नहीं थी। लोग मुझसे कहते हैं: “आपका अहिंसा का कार्यक्रम तो देश के सामने लगभग दो दशकों से पड़ा हुआ है, लेकिन आपने जो स्वराज्य दिलाने का वादा किया था, वह कहां है?” मेरा उत्तर यह है कि कहने को तो अहिंसा को करोड़ों लोगों ने अपना लिया, लेकिन उसका आचरण बहुत

**“आपका अहिंसा का कार्यक्रम तो देश के सामने लगभग दो दशकों से पड़ा हुआ है, लेकिन आपने जो स्वराज्य दिलाने का वादा किया था, वह कहां है?” मेरा उत्तर यह है कि कहने को तो अहिंसा को करोड़ों लोगों ने अपना लिया, लेकिन उसका आचरण बहुत कम लोगों ने किया और जिन्होंने किया उन्होंने भी उसे एक नीति मानकर ही किया।**

कम लोगों ने किया और जिन्होंने किया उन्होंने भी उसे एक नीति मानकर ही किया। लेकिन इस सबके बावजूद जो परिणाम सामने आया है, वह मुझे खुदाई खिदमतगारों के बीच अपना प्रयोग जारी रखने के लिए प्रोत्साहित करने की दृष्टि से काफी अच्छा है।

**जब** मैं यहां आया तब मैंने सोचा भी नहीं था कि इस बार भी, जब यह तीसरी बार मैं आपके प्रांत में आया हूं, आप मुझे मानपत्र इनायत करेंगे। मैंने तो समझा था कि मैंने आपके प्रांत के साथ अपना इतना अधिक तादात्म्य स्थापित कर लिया है कि आप मुझे अपने में ही गिनेंगे और मुझे मानपत्र भेंट करने या अन्य शिष्टाचार की कोई जरूरत नहीं मानेंगे।

तो क्या मुझे यह समझना चाहिए कि अब भी मुझे आपसे प्रमाणपत्र प्राप्त करना बाकी है?

पिछली बार तो आपने मुझे मानपत्र और थैली दोनों दिए थे, लेकिन इस बार सिर्फ मानपत्र ही दिया है— थैली नहीं। क्या मैं जान सकता हूं कि अपने किस गुनाह के कारण मैं इस तरह आपकी ‘नजरों से गिर गया हूं?’

अनेक बार मैंने यह शिकायत सुनी है कि हिंदू-मुस्लिम एकता में इसलिए देर हो रही है कि मैं उसके लिए काफी प्रयत्न नहीं कर रहा हूं, और अगर मैं मात्र इसी पर अपनी शक्ति केंद्रित कर दूं तो आज ही यह एकता स्थापित हो सकती

है। क्या मैं आपको विश्वास दिलाऊँ कि अगर आज मैं ऐसा करता हुआ मालूम नहीं पड़ रहा हूँ तो इसका कारण यह नहीं है कि हिंदू-मुस्लिम एकता में मेरा उत्साह कम हो गया है। बात यह है कि इस महान काम के लिए अपनी अपूर्णता और ऐसे बड़े उद्देश्यों की पूर्ति के लिए केवल बाहरी साधनों की अपर्याप्तता जितनी मुझे अब महसूस हुई है, उतनी पहले कभी नहीं हुई थी। मैं पूर्णतः प्रभु की कृपा पर निर्भर रहने का पाठ अधिकाधिक सीखता जा रहा हूँ।

अगर आप मेरे दिल को चीरकर देख सकें, तो आप पाएंगे कि उसमें सोते जागते चौबीसों घंटे, लगातार हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए प्रार्थना और आध्यात्मिक साधना चलती रहती है। मैं हिंदू-मुस्लिम एकता अवश्य चाहता हूँ— और किसी कारण से नहीं तो इस कारण से कि मैं जानता हूँ उसके बिना स्वराज्य हासिल नहीं हो सकता। किसी को इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि हिंदुओं का बहुमत होने के कारण वे दूसरी जातियों के समर्थन या सहायता के बगैर सविनय अवज्ञा संगठित करके हिंदुस्तान के लिए या खुद अपने ही लिए स्वराज्य हासिल कर लेंगे। जैसाकि मैंने अक्सर कहा है, सविनय अवज्ञा अगर बिलकुल शुद्ध रूप में हो तो कुछ आदमियों तक सीमित होने पर भी वह प्रभावकारी हो सकती है। लेकिन जरूरत यह है कि वे चंद व्यक्ति ऐसे हों जिनके पीछे सारे राष्ट्र की स्वीकृति, इच्छा और शक्ति हो।

सशस्त्र युद्ध में भी क्या यही बात नहीं होती? लड़ने वाली फौजों के पीछे सारे गैर-फौजी लोगों की मदद और सहयोग होना जरूरी होता है। ऐसा न होने पर वे अपंग हो जाते हैं। जब स्वराज्य के लिए मैं अधीर हूँ तब हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए तो मेरा अधीर होना जरूरी ही है। और मुझे पूरा विश्वास है कि देर में या जल्दी, बल्कि शायद जल्दी ही, हिंदुओं और मुसलमानों के बीच ऐसी एकता स्थापित हो जाएगी जो जोड़-तोड़कर किया हुआ कोई राजनीतिक समझौता न होकर सच्ची और स्थायी दिली एकता होगी।

यह एक ऐसा सपना है जो बिलकुल बचपन से ही मेरे जीवन में ओतप्रोत रहा है। अपने पिता के वक्त की मुझे अच्छी तरह याद है। मुझे स्मरण है कि तब राजकोट के हिंदू-मुसलमान किस प्रकार आपस में मिलते-जुलते थे और किस

**जब स्वराज्य के लिए मैं अधीर हूँ तब हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए तो मेरा अधीर होना जरूरी ही है। और मुझे पूरा विश्वास है कि देर में या जल्दी, बल्कि शायद जल्दी ही, हिंदुओं और मुसलमानों के बीच ऐसी एकता स्थापित हो जाएगी जो जोड़-तोड़कर किया हुआ कोई राजनीतिक समझौता न होकर सच्ची और स्थायी दिली एकता होगी।**

तरह एक-दूसरे के पारिवारिक और धार्मिक समारोहों में सगे भाइयों की तरह शामिल होते थे। मेरा विश्वास है कि देश में वे सुनहरे दिन एक बार फिर आएंगे। दोनों जातियों के बीच इस समय जो तू-तू मैं-मैं और जरा-जरा-सी बात पर झगड़े-फसाद होते रहते हैं, वे मतिभ्रम के कारण हो रहे हैं। वे हमेशा कायम नहीं रह सकते।

**अपने साधनों के चुनाव करने का ईश्वर का यह अपना तरीका है। हो सकता है, लगातार हार्दिक प्रार्थना के बावजूद मैं इस महान कार्य के लिए उपयुक्त न पाया जाऊं। हम सबको हर क्षण कटिबद्ध रहना चाहिए, क्योंकि कब और किसको वह अपने काम के लिए चुन ले, यह हम नहीं जानते। मेरे ऊपर सारी जिम्मेदारी डालकर आपको अपनी जिम्मेदारी से नहीं बचना चाहिए। मेरे लिए आप यह दुआ मांगें कि मेरे जीवन-काल में ही मेरा सपना सच हो जाए।**

इस दुनिया में बड़े-से-बड़े काम केवल मनुष्य के प्रयत्न से नहीं होते। वे तो समय आने पर ही होते हैं। अपने साधनों के चुनाव करने का ईश्वर का यह अपना तरीका है। हो सकता है, लगातार हार्दिक प्रार्थना के बावजूद मैं इस महान कार्य के लिए उपयुक्त न पाया जाऊं। हम सबको हर क्षण कटिबद्ध रहना चाहिए, क्योंकि कब और किसको वह अपने काम के लिए चुन ले, यह हम नहीं जानते। मेरे ऊपर सारी जिम्मेदारी डालकर आपको अपनी जिम्मेदारी से नहीं बचना चाहिए। मेरे लिए आप यह दुआ मांगें कि मेरे जीवन-काल में ही मेरा सपना सच हो जाए। हमें कभी निराश या हताश नहीं होना चाहिए। मनुष्य की हिकमत के मुकाबले ईश्वर की लीला तो अपरंपार है।

मुझे यह जानकर बहुत दुख हुआ है कि इस प्रांत के कांग्रेसजनों में भी अंदरूनी झगड़े पैदा होने लगे हैं। कल एक घंटे से अधिक समय तक आपकी प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्यों से एकांत में मेरी बातचीत हुई है। उन्होंने मुझसे

कहा कि मैं उन्हें इससे निकलने का कोई रास्ता बतलाऊं। मैं कहता हूं कि इसका हल तो आपके अपने ही हाथों में है। खानसाहब अब्दुल गफ्फार खां को आपने अपना बेताज का बादशाह माना है। आपने उन्हें 'बादशाह खान' और 'फख्र-ए-अफगान' की गौरवपूर्ण उपाधियां बख्शी हैं। अतः आपके लिए, पहले की तरह ही, उनका शब्द ही कानून होना चाहिए। दलीलों में उनका विश्वास नहीं है। वे तो जो कुछ कहते हैं अपने दिल से कहते हैं। आपने उन्हें जो उपाधियां दी हैं, अगर वे दिखावटी नहीं हैं और उनको आप सही साबित करना चाहते हैं, तो आपको अपने आपसी मतभेदों को भुलाकर उनके नेतृत्व में एक संगठित दल की तरह काम करना सीखना चाहिए।



फिर, सीमा-प्रांत की जनता में फैली हुई गरीबी का भी सवाल है। मुझे बताया गया है कि उनमें से बहुतों को भर-पेट खाना भी मुश्किल से ही मिलता है। पठान जैसी हट्टी-कट्टी कौम को ऐसी दुर्दशा में रहना पड़े, यह उसके लिए बड़े अपमान की बात है। लेकिन इसका इलाज भी बहुत हद तक आपके ही हाथों में है। आप लोगों को अपने हाथों से काम करना और श्रम की गरिमा समझना सिखाएं। इसमें शक नहीं कि मंत्रीमंडल सुविधाएं उपलब्ध करवा सकता है और कराएगा। लेकिन तफसीलों का ध्यान रखते हुए आरंभिक प्रयत्न तो स्वयंसेवकों को ही करना पड़ेगा।

ईश्वर आपको सही मार्ग दिखलाए। मैं यह जानता हूं कि जब हम आपस में झगड़ते भी हैं तो स्वाधीनता के आगमन की गति में तेजी लाने के लिए इस आशा से ही झगड़ते हैं कि उसके आने पर हमारे सारे दुख मिट जाएंगे।

ईश्वर करे, आजादी की हमारी लगन— हमें अलग करने वाले तमाम मतभेदों की तुलना में— हमारे बीच एकता स्थापित करने वाला ज्यादा मजबूत सूत्र साबित हो।

ऐबटाबाद में सन् 1938 तथा 39 में दिए गए भाषण



# कुछ समझाती और लजाती तस्वीरें

कुमार प्रशांत

**कई** बार तस्वीरें लिखे और कहे से ज्यादा सफाई से बात कह जाती हैं। याद कीजिए, वियतनाम युद्ध के दौरान छपी वह तस्वीर जिसने अमेरिकी हैवानियत का चेहरा कुछ इस तरह उजागर कर दिया था कि आज तक अमेरिका खुद को उससे अलग नहीं कर पाया है।

यह तस्वीर थी जिसमें एक उन्मत्त अमेरिकी फौजी निहत्थे वियतनामी की कनपटी पर अपनी पिस्तौल सटा कर अब घोड़ा दबाने ही को है! मौत से पल भर पहले की वह तस्वीर जैसे दुनिया भर की उन सारी शक्तियों को मुंह चिढ़ा रही थी जो मानवीयता, करुणा आदि को मनुष्य का जन्मजात गुण मानते हैं।

वियतनामी युवक मौत के उस पार की तैयारी में सिर्फ दांत भींचे खड़ा था। उसकी आंखों में न कोई कायरता थी, न कोई दहशत! वह मौत का खटका सुनने की तैयारी में खड़ा था। अर्नेस्ट हेमिंग्वे ने कहीं लिखा है कि घोर विपदा के समय भी व्यक्तित्व का सहज सौंदर्य अक्षुण्ण रहे, यही साहस है! मैं आज भी उस वियतनामी को अपने दौर के सबसे साहसी लोगों में गिनता हूं और बारंबार उसके सामने सिर झुकाता हूं।

दूसरी तस्वीर अपने हिंदुस्तान के गुजरात की है। सांप्रदायिक उन्माद फैला कर राज्य ने अपने ही नागरिकों को चारे की तरह भीड़ के सामने फेंक दिया था। तस्वीर है तब के एक मुस्लिम युवक का भयाक्रांत चेहरा! भीड़ के वहशीपन के सामने वह एकदम असहाय है। वह देख रहा है कि मौत उसके टुकड़े-टुकड़े कर ही देगी और इस आसन्न मौत के सामने गिड़गिड़ा कर अपने वजूद की अंतिम सीढ़ी को पकड़ने की कोशिश में भय से भरा उसका चेहरा! उस दौर की सरकार और उस दौर का गुजरात चाहे प्रगति के लाख आंकड़े बिखरे, वह इस चेहरे पर छाई बेबसी से मुक्त नहीं हो सकता है।

तीसरी तस्वीर है पाकिस्तान की। आज पाकिस्तान किसी जंगल में तब्दील हो गया है, जिसमें वहशीपन अट्टहास करता घूम रहा है। तुलनाएं हमेशा ही अधूरी होती हैं लेकिन मुझे आज का पाकिस्तान महाभारत के अंत की सांझ की याद दिलाता है। पाकिस्तान रेंजर्स की हथियारबंद टोली एक पाकिस्तानी युवक को सरेआम सड़क पर घेर कर, उसी तरह हांक कर मौत के घाट उतारती है जिस तरह कहते हैं कि सूअरों का शिकार किया जाता है। बंदूक की नाल पकड़कर उसकी दिशा मोड़ने की कोशिश करता वह युवक समूचे पाकिस्तान के अस्तित्व को अनंतकाल तक प्रेतछाया की तरह घेरे रहेगा।

और अब इन तस्वीरों के साथ मैं फिर से अपने ही देश के ओडिशा राज्य की एक ताजा तस्वीर रखता हूं। यह चौथी तस्वीर कई दिनों से टी.वी. के परदे पर उभर रही है। लेकिन इस पर उनमें से किसी की न तो जुबान खुल रही है और न आंखें फट रही हैं, जिनके हाथ में सत्ता है, कानून है। संविधान व लोकतंत्र की बड़ी-बड़ी जुबान से संसद के सर्वोपरि होने की बात कर रहे लोगों में से किसी को वह बात साल नहीं रही है कि संसद को जिसने सर्वोपरि बनाया, जिसके वोट के बल पर आप उस संसद में जा बैठे हैं, जब उसी आम नागरिक को बंदूक की नोक के सामने रखकर असहाय बनाया जाए, अपमानित व अवमानित किया जाए तो उस संसद और सांसद की क्या जिम्मेवारी बनती है? तस्वीर ओडिशा की राजधानी भुवनेश्वर

से लगे जगतसिंहपुर जिले के गोविंदपुर ब्लाक के धिंकिया गांव की है। एक तरफ गांव के लोग हैं जो जमीन पर आँधे लेटे हुए हैं— सबसे आगे की कतार में बच्चे हैं, उनके पीछे औरतें हैं, फिर वृद्धों की पांत है और अंत में किसान-मजदूर आदि हैं। ये लोग इस निश्चय के साथ रास्ता रोके बैठे या कहें लेटे हैं कि हम अपनी जमीन किसी भी परियोजना के लिए नहीं देंगे। यह उस गांव का अपना चक्रव्यूह है जिसे भेदने की तैयारी में ओडिशा की पुलिस सामने खड़ी है! बंदूकें लपलपा रही है। सामने हैं सत्ता व शस्त्र की ताकत से उन्मत्त अधिकारी, जो माइक से चिल्लाकर लोगों को रास्ता खाली करने की चेतावनी दे रहे हैं।

मरने की तैयारी और मारने का अहंकार, यही आज के हमारे भारत की सच्ची तस्वीर है। दक्षिण कोरिया की कंपनी पॉस्को ओडिशा के इस इलाके में

**एक मुस्लिम युवक का भयाक्रांत  
चेहरा! भीड़ के वहशीपन के  
सामने वह एकदम असहाय है।  
वह देख रहा है कि मौत उसके  
टुकड़े-टुकड़े कर ही देगी और इस  
आसन्न मौत के सामने गिड़गिड़ा  
कर अपने वजूद की अंतिम सीढ़ी  
को पकड़ने की कोशिश में  
भय से भरा उसका चेहरा!**

इस्पात का कारखाना डालने आई है और इसके लिए उसे चाहिए कोई पांच हजार एकड़ जमीन। यह ओडिशा का सबसे उपजाऊ इलाका है, जहां लोग दूसरी फसलों के साथ-साथ पान, काजू, मछली आदि की अच्छी खेती करते हैं और अत्यंत गरीब बना दिए गए ओडिशा में अपना ठीक-ठाक गुजर-बसर करते हैं।

लेकिन पॉस्को को यहीं, इसी इलाके में अपना कारखाना डालना है और जनता के प्रतिनिधियों से बनी विधानसभा को सर्वोपरि मानने वाली ओडिशा सरकार उसकी अभ्यर्थना में झुकी हुई है। वह अपने किसानों से जमीन लेकर कंपनी को सौंपने पर आमादा है। भले ही इसके लिए लूटने, छीनने की जरूरत

**एक तरफ गांव के लोग हैं जो जमीन पर औंधे लेटे हुए हैं सबसे आगे की कतार में बच्चे हैं, उनके पीछे औरतें हैं, फिर वृद्धों की पांत है और अंत में किसान-मजदूर आदि हैं। ये लोग इस निश्चय के साथ रास्ता रोके बैठे या कहें लेटे हैं कि हम अपनी जमीन किसी भी परियोजना के लिए नहीं देंगे। यह उस गांव का अपना चक्रव्यूह है जिसे भेदने की तैयारी में ओडिशा की पुलिस सामने खड़ी है! बंदूकें लपलपा रही है।**

पड़े! यह रस्साकसी वर्षों से चल रही है। दिल्ली से लेकर भुवनेश्वर तक सभी जानते हैं कि यहां लोगों का प्रतिरोध मजबूत है। साम्यवादी अपना मोर्चा बनाए बैठे हैं और अपने दर्शन के मुताबिक साम-दाम-दंड-भेद से सरकारी ज्यादाती का मुकाबला कर रहे हैं। सरकार भी इन्हीं सारे हथियारों से उन्हें हराने-तोड़ने-खरीदने व डराने में लगी है।

लेकिन इनके अलावा गांधी के रास्ते पर गहरी आस्था रखने वाले राष्ट्रीय युवा संगठन और सर्वोदय के साथी भी हैं, जो इस इलाके में अपना कुछ प्रभाव रखते हैं और शांतिपूर्ण संगठन की ताकत से इस सरकारी ज्यादाती का अब तक मुकाबला करते रहे हैं। पुलिस द्वारा उनकी पिटाई हुई है, गिरफ्तारियां हुई हैं व कंपनी के लोगों से भी उन पर कातिलाना हमले करवाए गए हैं! सालों से यह सब चल रहा है। अपनी सारी कोशिशों के बाद भी सरकार अब तक अपने ही नागरिकों से उतनी जमीन नहीं छीन

पाई है जो कि पॉस्को की भूख शांत कर सके।

पिछली जून से धिंकिया-गोविंदपुर में यही चल रहा है और लोग भूखे-प्यासे सड़क पर सो रहे हैं। प्लास्टिक के बर्तनों से बच्चों को एक-एक घूंट पानी पिलाते, नारे लगाते, विरोध को सशक्त करते थोड़े से लोगों को सारा देश देख रहा है और लोगों की प्रतिनिधि सरकार के सिपाही बंदूक के निशाने पर लोगों को लिए सावधान खड़े हैं, एकदम आमने-सामने जैसे सीमा पर भारत-पाक की फौज हो!

यह तस्वीर लोकतंत्र को विद्रूप बनाती है। हो सकता है धिंकिया-गोविंदपुर के लोग ही गलत हों और नवीन पटनायक की सरकार इस मायने में सही हो कि पॉस्को परियोजना से ही ओडिशा का विकास संभव है। संभव है सर्वज्ञानी सरकार ही सही हो और वे सारे लोग गलत साबित हो जाएं, जो आज सड़कों पर बैठे हैं। तो भी क्या लोकतंत्र के मिजाज में यह बात बैठती है कि आप बंदूक की नोक पर सही-गलत का ऐलान भी कर दें और उसे स्थापित करने की जिद में जुट भी जाएं? लोकतंत्र हमेशा ही आम राय बनाने की प्रक्रिया है। वह हमें बताती है कि जब तक जिस भी बारे में आम राय नहीं बने, तब तक वह पहल स्थगित रहे और लोगों को समझाने-मनाने की प्रक्रिया चलती रहे।

नवीन पटनायक कह सकते हैं कि इससे ओडिशा को बहुत नुकसान होगा। हम उनसे कहेंगे कि वे जो कर रहे हैं, उससे सारे देश का, लोकतांत्रिक आस्था व संस्थानों का बहुत बड़ा व गहरा नुकसान होगा। छल-बल से अपना हेतु सिद्धि करना ही हो तो नक्सली क्या बुरा कर रहे हैं? क्या जनता द्वारा चुनी और जनता के प्रति उत्तरदायी सरकार भी किसी भी सवाल पर वैसा रुख अपना सकती है? लोकतंत्र ने बहुत सारी लक्ष्मण-रेखाएं खींची हैं, जिनमें से कई सरकारों पर लागू होती हैं। कोई भी सरकार यह अपेक्षा नहीं करती है कि वह अपनी लक्ष्मण रेखा का उल्लंघन करती रहे और लोकतंत्र के दूसरे घटक अपनी मर्यादा में रहें।

**संभव है सर्वज्ञानी सरकार ही सही हो और वे सारे लोग गलत साबित हो जाएं, जो आज सड़कों पर बैठे हैं। तो भी क्या लोकतंत्र के मिजाज में यह बात बैठती है कि आप बंदूक की नोक पर सही-गलत का ऐलान भी कर दें और उसे स्थापित करने की जिद में जुट भी जाएं? लोकतंत्र हमेशा ही आम राय बनाने की प्रक्रिया है। वह हमें बताती है कि जब तक जिस भी बारे में आम राय नहीं बने, तब तक वह पहल स्थगित रहे और लोगों को समझाने-मनाने की प्रक्रिया चलती रहे।**

कुमार प्रशांत राष्ट्रीय युवा संगठन के संस्थापक हैं और देश में युवा पीढ़ी के बीच गांधी विचार के बीज बोने के काम में संलग्न हैं।



# विज्ञान ठहर सकता है, स्वराज नहीं

कृष्ण कुमार मिश्र

**आचार्य** प्रफुल्ल चंद्र राय देश के आधुनिक रसायन विज्ञान के जनक हैं। वे एक सादगीपसंद तथा देशभक्त वैज्ञानिक थे। उन्होंने रसायन प्रौद्योगिकी में देश के स्वावलंबन के लिए अप्रतिम प्रयास किए। वर्ष 2011 संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अंतर्राष्ट्रीय रसायन वर्ष के रूप में मनाया जा रहा है। यह वर्ष हमारे इस मनीषी के जन्म का 150 वां वर्ष भी है। वे देश में वैज्ञानिक तथा औद्योगिक पुनर्जागरण के स्तंभ थे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में आजादी की लड़ाई के साथ-साथ देश में ज्ञान-विज्ञान की भी एक नई लहर उठी थी। इसमें जगदीश चंद्र बसु, प्रफुल्ल चंद्र राय, श्रीनिवास रामानुजम् और चंद्रशेखर वेंकटरामन जैसे वैज्ञानिकों का नाम लिया जा सकता है। इन महान वैज्ञानिकों ने पराधीनता के बावजूद अपनी लगन तथा निष्ठा से विज्ञान में अंतर्राष्ट्रीय स्तर की ऊंचाई को छुआ था। आचार्यजी का जन्म 2 अगस्त 1861 ई. को जैसोर जिले के ररौली गांव में हुआ था। यह स्थान अब बांग्लादेश के खुलना जिले में है। उनके पिता हरिश्चंद्र राय इस गांव के प्रतिष्ठित जमींदार थे। खुले दिमाग के व्यक्ति थे। आचार्य राय की मां भुवनमोहिनी देवी भी एक प्रखर चेतना संपन्न महिला थीं।

आचार्य राय के पिता का अपना पुस्तकालय था। उनका झुकाव अंग्रेजी शिक्षा की ओर था। इसलिए उन्होंने अपने गांव में एक मॉडल स्कूल की स्थापना की थी। इसी स्कूल में प्रफुल्ल ने प्राथमिक शिक्षा पाई। बाद में अल्बर्ट स्कूल में दाखिला लिया। सन् 1871 में प्रफुल्ल ने अपने बड़े भाई नलिनीकांत के साथ डेविड हेयर के स्कूल में प्रवेश लिया। राय उस स्कूल में ज्यादा दिन नहीं पढ़ सके। बीमारी के कारण उन्हें न सिर्फ स्कूल छोड़ना पड़ा बल्कि नियमित पढ़ाई भी छोड़ देनी पड़ी। लेकिन उस दौरान उन्होंने अंग्रेजी साहित्य और बांग्ला की ऐतिहासिक और साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन किया। वे बारह साल की उम्र में चार बजे

सुबह उठ जाते थे। पाठ्य पुस्तकों के अलावा वे इतिहास तथा जीवनियों में अधिक रुचि रखते थे। 'चैम्बर्स बायोग्राफी' उन्होंने कई बार पढ़ी थी। वे सर डब्ल्यू. एम. जोन्स, जॉन लेडेन और उनकी भाषायी उपलब्धियों तथा फ्रैंकलिन के जीवन से काफी प्रभावित थे।

सन् 1879 में उन्होंने दसवीं की परीक्षा उत्तीर्ण की। फिर आगे की पढ़ाई मेट्रोपोलिटन कॉलेज (अब विद्यासागर कॉलेज) में शुरू की। यह एक राष्ट्रीय शिक्षण संस्था थी। यहां फीस भी कम थी। परंतु वहां दाखिला उन्होंने सिर्फ आर्थिक कारणों से नहीं लिया था। उस समय पूजनीय माने जाने वाले सुरेन्द्रनाथ बनर्जी वहां अंग्रेजी गद्य के प्रोफेसर थे और प्रशांत कुमार लाहिड़ी वहां अंग्रेजी कविता पढ़ाते थे। उस समय रसायन विज्ञान ग्यारहवीं कक्षा का एक अनिवार्य विषय था। वहीं पर पेडलर महाशय की उत्कृष्ट प्रयोगात्मक क्षमता देखकर धीरे-धीरे वे रसायन विज्ञान की ओर उन्मुख हुए। पास में प्रेसिडेंसी कॉलेज में विज्ञान की पढ़ाई का अच्छा इंतजाम था। वे बाहरी छात्र के रूप में वहां भी जाने लगे।

उसी समय प्रफुल्ल चंद्र के मन में गिलक्राइस्ट छात्रवृत्ति के इम्तहान में बैठने की इच्छा जगी। यह इम्तहान लंदन विश्वविद्यालय की मैट्रिक परीक्षा के बराबर माना जाता था। इस इम्तहान में लैटिन या ग्रीक तथा जर्मन भाषाओं का ज्ञान होना जरूरी था। अपने भाषा ज्ञान को आजमाने का प्रफुल्ल के लिए यह अच्छा अवसर था। इस इम्तहान में सफल होने पर उन्हें छात्रवृत्ति मिल जाती और आगे के अध्ययन के लिए वे इंग्लैंड जा सकते थे।

अपनी लगन और मेहनत से वे इस परीक्षा में कामयाब रहे। इस प्रकार वे इंग्लैंड के लिए रवाना हो गए। नया देश, नए नीति-रिवाज, पर प्रफुल्ल चंद्र इन सबसे जरा भी चिंतित नहीं हुए। अंग्रेजों की नकल उतारना उन्हें पसंद नहीं था। उन्होंने चोगा और चपकन बनवाई और इसी वेश में इंग्लैंड गए। उस समय वहां लंदन में जगदीशचंद्र बसु अध्ययन कर रहे थे। राय और बसु में परस्पर मित्रता हो गई।

प्रफुल्ल चंद्र राय को एडिनबरा विश्वविद्यालय में अध्ययन करना था। यह जगह विज्ञान की पढ़ाई के लिए मशहूर थी। वर्ष 1885 में उन्होंने पी.एच.डी. का शोधकार्य पूरा किया। उनके उत्कृष्ट कार्यों के लिए उन्हें एक साल की अध्येतावृत्ति भी मिली तथा एडिनबरा विश्वविद्यालय की रसायन सोसायटी ने उनको अपना उपाध्यक्ष चुना। वे छह साल बाद देश वापस आए। लगभग एक साल तक राय को नौकरी नहीं मिली थी। यह समय उन्होंने कलकत्ते में बसु के घर पर व्यतीत किया। इस दौरान खाली रहने पर उन्होंने रसायन विज्ञान तथा

वनस्पति विज्ञान की पुस्तकों का अध्ययन किया और रॉक्सबोर्ग की 'प्लोरा इंडिका' और हॉकर की 'जेनेरा प्लांटेरम' की सहायता से कई पेड़-पौधों की प्रजातियों को पहचाना और उन्हें संग्रहीत किया। उन्हें जुलाई 1889 में प्रेसिडेंसी कॉलेज में 250 रुपए मासिक वेतन पर रसायन विज्ञान के सहायक प्रोफेसर के पद पर नियुक्त किया गया। सन् 1911 में वे प्रोफेसर बने। उसी वर्ष ब्रिटिश सरकार ने उन्हें 'नाइट' की उपाधि से सम्मानित किया। सन् 1916 में वे प्रेसिडेंसी कॉलेज से रसायन विज्ञान के विभागाध्यक्ष के पद से सेवानिवृत्त हुए। फिर 1916

**गोपाल कृष्ण गोखले से लेकर गांधीजी तक से उनका मिलना जुलना था। कलकत्ता में गांधीजी की पहली सभा कराने का श्रेय डा. राय को ही जाता है। राय एक सच्चे देशभक्त थे उनका कहना था: "विज्ञान ठहर सकता है, पर स्वराज्य नहीं।" वे स्वतंत्रता आंदोलन में एक सक्रिय भागीदार थे। उन्होंने असहयोग आंदोलन के दौरान भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के रचनात्मक कार्यों में मुक्तहस्त आर्थिक सहायता दी। उन्होंने अपने एक भाषण में कहा था "मैं रसायन शाला का प्राणी हूँ। मगर ऐसे भी मौके आते हैं जब वक्त का तकाजा होता है कि टेस्ट-ट्यूब छोड़कर देश की पुकार सुनी जाए।"**

से 1936 तक उसी जगह एमेरिटस प्रोफेसर के तौर पर काम करते रहे। सन् 1933 में पं. मदन मोहन मालवीय ने आचार्य राय को डी.एस.सी. की मानद उपाधि से विभूषित किया। वे देश-विदेश के अनेक विज्ञान संगठनों के सदस्य रहे।

विज्ञान और उद्योग धंधों का परस्पर गहरा संबंध होता है। उस समय हमारे देश का कच्चा माल सस्ती दरों पर इंग्लैंड जाता था। वहां से तैयार वस्तुएं हमारे देश में आती थीं और ऊंचे दामों पर बेची जाती थीं। इस समस्या के निराकरण के उद्देश्य से डा. राय ने स्वदेशी उद्योग की नींव डाली। उन्होंने 1892 में अपने घर में ही एक छोटा-सा कारखाना बनाया। उनका मानना था कि इससे बेरोजगार युवकों को मदद मिलेगी। इसके लिए उन्हें कठिन परिश्रम करना पड़ा। वे हर दिन कॉलेज से शाम तक लौटते, फिर कारखाने के काम में लग जाते। उन्होंने एक लघु उद्योग के रूप में देसी सामग्री की मदद से औषधियों का निर्माण शुरू किया। बाद में इसने एक बड़े

कारखाना का स्वरूप ग्रहण किया, जो आज 'बंगाल केमिकल्स एंड फार्मास्यूटिकल वर्क्स' के नाम से जाना जाता है।

उनके द्वारा स्थापित स्वदेशी उद्योग में सौदेपुर में गंधक से तेजाब बनाने का कारखाना, कलकत्ता पॉटरी वर्क्स, बंगाल एनामेल वर्क्स तथा स्टीम नेविगेशन



प्रमुख हैं। सन् 1922 के बंगाल के अकाल के दौरान राय की भूमिका अविस्मरणीय रही है। 'मैनचेस्टर गार्डियन' के एक संवाददाता ने लिखा था, "इन परिस्थितियों में रसायन विज्ञान के एक प्रोफेसर पी.सी. राय सामने आए और उन्होंने सरकार की चूक को सुधारने के लिए देशवासियों का आह्वान किया। उनके इस आह्वान का काफी उत्साहजनक परिणाम निकला। बंगाल की जनता ने एक महीने में ही तीन लाख रुपए की मदद की। धनाढ्य परिवार की महिलाओं ने सिल्क के वस्त्र और गहने तक दान कर दिए। सैकड़ों युवाओं ने गांवों में लोगों को सहायता सामग्री वितरित की।

आचार्य राय ने स्वतंत्रता आंदोलन में भी सक्रिय भागीदारी निभाई। गोपाल कृष्ण गोखले से लेकर गांधीजी तक से उनका मिलना-जुलना था। कलकत्ता में गांधीजी की पहली सभा कराने का श्रेय डा. राय को ही जाता है। राय एक सच्चे देशभक्त थे, उनका कहना था: "विज्ञान ठहर सकता है, पर स्वराज्य नहीं।" वे स्वतंत्रता आंदोलन में एक सक्रिय भागीदार थे। उन्होंने असहयोग आंदोलन के दौरान भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के रचनात्मक कार्यों में मुक्तहस्त आर्थिक सहायता दी। उन्होंने अपने एक भाषण में कहा था— "मैं रसायन शाला का प्राणी हूँ। मगर ऐसे भी मौके आते हैं जब वक्त का तकाजा होता है कि टेस्ट-ट्यूब छोड़कर देश की पुकार सुनी जाए।" आचार्य ने रसायन विज्ञान की विभिन्न विशेषताओं, अनसुलझे से विषयों पर लगभग 200 परचे लिखे थे। इन्हें देश-विदेश की अनेक प्रतिष्ठित विज्ञान पत्रिकाओं में जगह मिली और इनका व्यापक प्रभाव भी पड़ा। इसके अलावा उन्होंने कई दुर्लभ भारतीय खनिजों को सूचीबद्ध किया। उन्होंने दो खंडों में 'हिस्ट्री ऑफ हिंदू केमिस्ट्री' नामक एक महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखा। इससे दुनिया को पहली बार यह जानकारी मिली कि प्राचीन भारत में रसायन विज्ञान कितना उन्नत था। इसका प्रथम खंड सन् 1902 में प्रकाशित हुआ तथा द्वितीय खंड 1908 में। इन कृतियों को देश के रसायन विज्ञान में एक अनूठे प्रसाद के रूप में माना जाता है।

**युनिवर्सिटी कॉलेज आफ साइंस, लंदन के प्रोफेसर एफ.जी. डोनान ने लिखा था:**  
**"सर पी.सी.राय जीवन भर केवल एक संकीर्ण दायरे में बंधे प्रयोगशाला विशेषज्ञ बन कर नहीं रहे। अपने देश की तरक्की तथा आत्मनिर्भरता हमेशा उनके आदर्श रहे। उन्होंने अपने लिए कुछ नहीं चाहा तथा सादगी और मितव्ययिता का कठोर जीवन जीया। राष्ट्र और समाज उनके लिए सर्वोपरि रहे। वे भारतीय विज्ञान के प्रणेता थे।"**

आचार्य राय ने बांग्ला तथा अंग्रेजी, दोनों भाषाओं में लेखन किया। सन् 1893 में उन्होंने 'सिम्पल जुआलजी' नामक पुस्तक लिखी जिसके लिए उन्होंने जीव विज्ञान की मानक पुस्तकें पढ़ीं तथा चिड़ियाघरों और संग्रहालयों का स्वयं दौरा किया। उन्होंने 'बासुमति', 'प्रवासी', 'आनंद बाजार पत्रिका', 'भारतवर्ष', 'बंगवाणी', 'बांग्लारवानी' और 'मानसी' जैसी पत्रिकाओं में भी विज्ञान पर सरल ढंग से बहुत सारे लेख लिखे।

कहा जाता है कि उन्होंने अपनी आय का 90 प्रतिशत हिस्सा दान कर दिया था। सन् 1922 में उन्होंने महान भारतीय कीमियागार नागार्जुन के नाम पर वार्षिक पुरस्कार शुरू करने के लिए दस हजार रुपए दिए। सन् 1936 में उन्होंने आशुतोष मुखर्जी के नाम पर भी एक शोध-पुरस्कार शुरू करने के लिए दस हजार दिए। कलकत्ता विश्वविद्यालय को उन्होंने रसायन विभाग के विस्तार तथा विकास के लिए 1,80,000 रुपए का अनुदान दिया। ऐसे उदारमान विज्ञानी का 16 जून, 1944 को देहावसान हो गया।

उनके बारे में युनिवर्सिटी कॉलेज आफ साइंस, लंदन के प्रोफेसर एफ.जी. डोनान ने लिखा था: "सर पी.सी.राय जीवन भर केवल एक संकीर्ण दायरे में बंधे प्रयोगशाला विशेषज्ञ बन कर नहीं रहे। अपने देश की तरक्की तथा आत्मनिर्भरता हमेशा उनके आदर्श रहे। उन्होंने अपने लिए कुछ नहीं चाहा तथा सादगी और मितव्ययिता का कठोर जीवन जिया। राष्ट्र और समाज उनके लिए सर्वोपरि रहे। वे भारतीय विज्ञान के प्रणेता थे।"

उन्होंने संन्यस्त तथा व्रती का जीवन बिताया। परिवार नहीं बसाया। सबको अपना परिवार बनाया। सांसारिक बंधनों तथा मोहमाया और परिग्रह से अपने को कोसों दूर रखा।

अपने देहावसान से पूर्व आचार्य प्रफुल्ल चंद्र राय ने अपनी समस्त संपत्ति सामाजिक कार्यों के लिए दान कर दी थी। ऐसा था ऋषितुल्य और प्रेरणादायी उनका व्यक्तित्व और कृतित्व।

मुंबई स्थित टाटा मूलभूत अनुसंधान संस्थान के होमी भाभा विज्ञान केन्द्र में काम कर रहे वैज्ञानिक श्री कृष्ण कुमार देश की अनेक विज्ञान अकादमियों से जुड़े हुए हैं।



# भोग और विलास का रोग

सोपान जोशी

**ये** दो हफ्ते का मौसम था जो हर साल की तरह नवंबर-दिसंबर में आया और चला गया। संयुक्त राष्ट्र की जलवायु परिवर्तन पर सालाना मंत्रणा का। इस साल की मंत्रणा दक्षिण अफ्रीका के डरबन शहर में हुई। हर किसी को इस दौरान पर्यावरण का बुखार चढ़ता है। हर अखबार-पर्चे, पत्रिका और खबरी टीवी में पृथ्वी के वायुमंडल में होते उथल-पुथल की जानकारी की बाढ़ आ जाती है।

बार-बार बताया जाता है कि अमुक साल तक अमुक डिग्री तापमान बढ़ने से प्रलय की स्थिति आ जाएगी। हर साल कई लोग पृथ्वी को बचाने की कसम खाते हैं। अखबारों और टीवी में पर्यावरणवादियों के विरोध प्रदर्शन के चित्र आते हैं। पर्यावरण के विशेषज्ञ बताते हैं कि स्थिति कितनी गंभीर है। हर साल कहा जाता है कि धरती को बचाने का समय बस यही है क्योंकि बाद में बहुत देर हो जाएगी।

ऐसा हम पिछले 20 साल से सुनते आ रहे हैं। पृथ्वी को बचाने के कम से कम बीस आखिरी मौके तो हम चूक ही चुके हैं। 21 वां मौका अभी दक्षिण अफ्रीका में प्रस्तुत था। दिसंबर के दूसरे हफ्ते तक ये बुखार उतर जाता है। और फिर नए साल के उल्लास और उत्सवों में जलवायु की चिंता डूब जाती है। अगले नवंबर तक। और क्यों नहीं डूबे? नाउम्मीदी सहने की एक हद होती है। हम सब को जीवन जीने के लिए आशा चाहिए होती है जो हम एक नए साल में ढूँढ लेते हैं।

हर साल जलवायु परिवर्तन को लेकर हताश होना ही क्यों पड़ता है? हमें ध्यान रखना चाहिए कि ये संयुक्त राष्ट्र संघ का स्वभाव है। इस तरह के मायूसी के मेले उसके कैलेंडर में अटे मिलते हैं। 1992 में संयुक्त राष्ट्र ने दुनिया भर के शीर्ष नेताओं को ब्राजील के शहर रीओ में बुलाया, पर्यावरण पर बातचीत करने के लिए। इसे पृथ्वी शिखर वार्ता कहा गया। इसमें तीन बड़े पर्यावरण संकटों के समाधान के लिए तीन संधियों पर हस्ताक्षर हुए।

तीनों विषय ऐसे हैं जिनमें हिंदी बोलने और लिखने वालों का सीधा संबंध है पर फिर भी इनके नाम इतने जटिल हैं कि समझ के परे हैं: जलवायु परिवर्तन, जैविक विविधता और मरुस्थलीकरण। अबूझ भाषा भी संयुक्त राष्ट्र के स्वभाव में है क्योंकि उसके नौकरशाह ऐसी जुबान बोलते हैं, जिससे किसी को बुरा न लगे। जैसा कि डर से किए गए कामों में होता है, किसी को बुरा लगे चाहे ना लगे, अच्छा तो किसी को नहीं ही लगता।

इसलिए तीनों संधियों के पेंच समझने के लिए इनके मूल में झांकना पड़ेगा। जैविक विविधता ज्यादातर उष्णकटिबंध के गरीब देशों में है। बढ़ते हुए मरुस्थल

**वायुमंडल अमीर और गरीब देशों का फर्क नहीं करता, जरूरत और भोग-विलास का भी नहीं। हम लोगों के पास अभी भी सांस लेने का बिल नहीं आता। पर अमीर देशों के भोग-विलास से हुए जलवायु परिवर्तन का बिल गरीब देश चुका रहे हैं।**

तो दुनिया के सबसे गरीब देशों की ही समस्या हैं। इन दोनों में युरोप और अमेरिका के अमीर देशों की कोई रुचि नहीं होती। इसलिए जैव विविधता और बढ़ते मरुस्थलों पर मंत्रणा दो साल में एक बार होती है। कब होती है और कम खतम होती है, पता ही नहीं चलता। जैसे मरुस्थलों पर दसवीं मंत्रणा अभी महीने भर पहले दक्षिण कोरिया में हुई और हमारे यहां पता तक नहीं चला।

पर जलवायु परिवर्तन की बात कुछ और है। पृथ्वी का वायुमंडल इतना तेजी से क्यों बदल रहा है? क्योंकि युरोप और अमेरिका के देश पिछले दो सौ साल में बहुत तेजी से अमीर

हो गए हैं। कार्बन की गैसों तो हमारे जीवन के हर हिस्से से बनती हैं। यहां तक की हम सांस भी छोड़ते हैं तो कार्बन डाइऑक्साइड ही निकलती है। पर औद्योगिक क्रांति के बाद युरोप और फिर अमेरिका में प्रकृति से मिले संसाधन को धड़ल्ले से भुनाया गया।

खनिज, कोयला, पेट्रोल, पानी, जंगल के पेड़, मिट्टी की उर्वरता, इन सबका इतना तेज उपयोग मनुष्य ने कभी नहीं किया था। इससे बने उपभोग के साधनों से युरोप और अमेरिका में एक तरह की अमीरी तो आई है पर हमारे वायुमंडल में कार्बन की गैस बहुत बढ़ गई है। इसका सीधा असर ये होता है धरती पर पड़ने वाली सूरज की गर्मी बराबर पलट नहीं पाती। नतीजतन धरती का तापमान बढ़ रहा है जिससे हमारे जीवन में उथल पुथल आ रही है।

वायुमंडल अमीर और गरीब देशों का फर्क नहीं करता, जरूरत और भोग-विलास का भी नहीं। हम लोगों के पास अभी भी सांस लेने का बिल नहीं

आता। पर अमीर देशों के भोग-विलास से हुए जलवायु परिवर्तन का बिल गरीब देश चुका रहे हैं। जलवायु परिवर्तन के सबसे भीषण परिणाम उष्णकटिबंध के इलाके में ही दिख रहे हैं। विज्ञान हमें बता रहा है कि ये उथल पुथल हम पर भारी पड़ेगी। जैसे समुद्र तल के उठने से घनी आबादी वाले बांग्लादेश के कई हिस्से डूब जाएंगे और लाखों लोग शरणार्थी बन कर भारत आ जाएंगे। हजारों साल से बने खेती के तरीके बेकार हो जाएंगे क्योंकि बारिश का समय और मात्रा बहुत बदलेंगे। सूखा और बाढ़ दोनों का असर ज्यादा होगा। कुछ अमीर देशों को जलवायु परिवर्तन से फायदा भी होगा। जैसे कनाडा और रूस में लाखों एकड़ बरफ के नीचे दबी पड़ी भूमि खुल जाएगी।

फिर भी अमीर देश अपने भोग-विलास में कटौती करने को तैयार नहीं हैं। जो सरकार और शासन का तंत्र हमारे इस आधुनिक युग में सत्तासीन है वो केवल पैसे की आवाज सुनता है। इसलिए संयुक्त राष्ट्र की निगरानी में होने वाले पर्यावरण कार्यक्रमों का आज तक कोई असर नहीं रहा। समस्याएं गरीब देशों के पास होती हैं और धन अमीर देशों के पास है। इसका सीधा असर संयुक्त राष्ट्र के काम में दिखता है जो मूलतः जड़ है।

हर साल दिसंबर में होने वाली जलवायु मंत्रणा का ढर्रा तय है। पहले हफ्ते 190 देशों के कूटनीतिज्ञ और नौकरशाह बैठकर बहस करते हैं। माहौल में संयुक्त राष्ट्र की खास मनहूसियत और गंभीरता रहती है। भाषणबाजी

का भाव न तो अपनी बात समझाना होता है और न ही किसी और की बात समझना। उलझी से उलझी, जटिल से जटिल भाषा में छोटी से छोटी बात पर बारीकी से झकबाजी होती है। हर बात का बहुत गहरा पटाक्षेप होता है जो थोड़े बहुत लोगों को ही पता होता है। इसके ऊपर कम से कम तीन यूरोपीय भाषाओं में काम होता है: अंग्रेजी, फ्रेंच और स्पैनिश। हर विषय पर संधिक्रम एक अथाह लंबे शतरंज के खेल जैसा होता है।

जब जलवायु संधि पर हस्ताक्षर हुए थे तब ये तय हुआ था कि कटौती अमीर देश करेंगे और गरीब और विकासशील देश, जैसे भारत, अपनी गरीबी दूर करने के बाद कटौती करनी शुरू करेंगे। पर आज तक किसी देश ने असरदार

**अमीर देश अपने भोग-विलास में कटौती करने को तैयार नहीं हैं। जो सरकार और शासन का तंत्र हमारे इस आधुनिक युग में सत्तासीन है वो केवल पैसे की आवाज सुनता है। इसलिए संयुक्त राष्ट्र की निगरानी में होने वाले पर्यावरण कार्यक्रमों का आज तक कोई असर नहीं रहा। समस्याएं गरीब देशों के पास होती हैं और धन अमीर देशों के पास।**

कटौती नहीं की है। हर मुल्क के कूटनीतिज्ञ गहन और उबाऊ जुबान में ये ही बताते हैं कि जलवायु परितर्वन की जिम्मेदारी उनकी नहीं है। अमीर देश अपने भोग-विलास को अपनी बुनियादी जरूरत बताते हैं और गरीब देश अपनी फटेहाली का रोना रोते हैं। दोनों कहते हैं कि वो कार्बन गैस वायुमंडल में छोड़ना रोक नहीं सकते हैं। हर एक गहन वैज्ञानिक तथ्य दिखाता है। हर तर्क का कुतर्क होता है। हर बादशाह पर इक्का पड़ता है। और फिर इक्के पर दुक्की!

गरीब देशों से आए कूटनीतिज्ञ रोटले और अकेले दिखते हैं। जैसे अनमने ही भीख मांगने आ गए हों और ताकतवर प्रतिद्वंदियों के सामने निरीह बकरे जैसे

**पर्यावरण और पृथ्वी  
को बचाने की बचकानी  
बातचीत में हम भूल जाते  
हैं कि पृथ्वी हम सबसे कहीं  
बड़ी और पुरानी है। विज्ञान  
मनुष्य की उत्पत्ति कोई दो  
लाख साल पहले अफ्रीका  
में मानता है। पृथ्वी की  
उत्पत्ति 450 करोड़  
साल पहले की आंकी  
जाती है।**

डाल दिए गए हों। उनकी भाषा में क्रियाएं भी अकर्मक होती हैं। फिर गरीब देशों के पास भेजने के लिए ठीक प्रतिनिधि होते भी नहीं हैं और अगर हों तो उन्हें भेजने का पैसा और दिमाग दोनों नहीं होता। जहां अमीर देश बीसियों या कुछ सौ लोगों के दल भेजते हैं, जिनमें कई विशेषज्ञ, कूटनीतिज्ञ और सौदेबाजी के विशेषज्ञ होते हैं, वहीं कुछ गरीब देश तो एक या दो लोगों के दल भेजते हैं, और उनकी रुचि भी घूमने फिरने में ज्यादा होती है, जलवायु परिवर्तन में कम। इसलिए उनमें से कोई अगर कुछ ठीक काम करना चाहे तो भी कर नहीं सकता।

दूसरे हफ्ते में देशों के राजनीतिक नेता मंत्रणा में पहुंचते हैं। कूटनीतिज्ञों की बातचीत

पर आधारित मसौदे पर राजनीतिक सौदेबाजी होती है। हर साल उम्मीद ये होती है कि राजनेता साथ मिलकर चलने का रास्ता निकालेंगे। हर बैठक के बाहर पत्रकार और पर्यावरण कार्यकर्ता टकटकी लगाए इंतजार करते हैं नतीजे का। हर साल राजनीतिक नेता कुछ ऐसी घोषणा करते हैं जो कर्णप्रिय हो। हम सबका साझा भविष्य बचाने के लिए हर संभव प्रयास करने जैसे ऊंची बातें। पर बारीकी से पढ़ने पर पता चलता है कि कोई भी पुख्ता राजनीतिक या संवैधानिक प्रण नहीं लिया गया है। कूटनीतिज्ञ और विशेषज्ञ अगले साल की मंत्रणा और उसके लिए होने वाली साल भर की बैठकों की तैयारी में चले जाते हैं।

अगर आपकी संवेदनाएं मरी नहीं हों तो इस सालाना सर्कस समारोह को करीब से देखना आपको अवसन्न छोड़ देगा। क्योंकि विज्ञान हमें हर रोज बता रहा है कि हमारे भोग-विलास की गैस के नशे में हम वो सब बिगाड़ रहे हैं जो

इस पृथ्वी पर हमारा जीवन बनाता है। पर्यावरण और पृथ्वी को बचाने की बचकानी बातचीत में हम भूल जाते हैं कि पृथ्वी हम सबसे कहीं बड़ी और पुरानी है। विज्ञान मनुष्य की उत्पत्ति कोई दो लाख साल पहले अफ्रीका में मानता है। पृथ्वी की उत्पत्ति 450 करोड़ साल पहले की आंकी जाती है। ठीक से पता करने की कृपत हमारे यहां है ही नहीं।

इसलिए जो कोई भी हमारे ग्रह को बचाने की बात करे उसे याद रखना चाहिए कि हम पृथ्वी का कुछ नहीं बिगाड़ सकते। जब कभी प्रलय आएगी तब हम वैसे ही गायब हो जाएंगे जैसे कभी डाइनोसोर हुए थे। पृथ्वी किसी जीवन के नए रूप को जन्म देगी। अगर बचाना है तो हमें अपने आपको बचाना होगा। अपने आप से।

क्योंकि विज्ञान हमें ये भी बताता है कि मनुष्य का क्रमविकास, जिसे अंग्रेजी में 'एवोल्यूशन' कहते हैं, एक समूह में रहने वाले प्राणी की तरह हुआ है। मनुष्य जाति की कामयाबी का कारण रहा है पारिवारिकता, सामाजिकता। इसी से हम साथ मिलकर बड़े से बड़े पशुओं को भी कब्जे में कर सकते हैं। बंद मुट्ठी लाख की।

लेकिन पिछले 600 साल में जो रास्ता युरोप ने अपनाया है वह व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा का है। उसमें भोग समूह में, भगवान को अर्पित करके नहीं होता। हर व्यक्ति की खुशी और दुख उसके अपने होते हैं और भोग-विलास भी अपना ही। हर व्यक्ति को अपने लिए बंगला, गाड़ी, टीवी, फ्रिज इत्यादि अलग से चाहिए। इसीलिए हम सब घोर व्यक्तिवादी होते जा रहे हैं। आज के शहरों में ऐसा संभव है कि हम बिना अपने पड़ोसी से पहचान बनाए मजे में रह सकते हैं। लेकिन जब जलवायु परिवर्तन से पानी की किल्लत होगी तब हमें बाल्टी उठाकर अपने पड़ोसी का दरवाजा खटखटाना पड़ेगा। वापस जाना पड़ेगा अपनी सामूहिकता और सामाजिकता की ओर।

पर वह यात्रा आसान नहीं होगी। उसे समझने के लिए हमें जीवाणुओं की दुनिया देखनी चाहिए। जैसे पृथ्वी हमारा घर है, वैसे ही करोड़ों, अरबों सूक्ष्म जीवाणु हमारे शरीर में रहते हैं। इसमें यह भी जान लेना चाहिए कि हमारे शरीर में कुल जितनी कोशिकाएं हैं, उनमें केवल 10 प्रतिशत हमारी अपनी हैं। बाकी करीब 9,00,00,000 करोड़ सूक्ष्म जीवाणु हैं। इसे और सरल या कठिन ढंग से लिखना-समझना हो तो करोड़ शब्द को भी अंक में बदल लें। तब यह संख्या होगी 9,00,00,00,00,00,00,000। ये सब हमारे शरीर में परजीवी की तरह रहते हैं। इनमें से कई तो बहुत लाभदायक होते हैं और उनके बिना हमारा शरीर खाना तक नहीं पचा सकता।

ये जीवाणु जानते हैं कि उन्हें अगर जीवित रहना है और अपनी संतति को आगे बढ़ाना है तो उन्हें मनुष्य को हानि नहीं पहुंचानी चाहिए। पर कुछेक जीवाणु ये भूल जाते हैं और अपने यजमान को बीमार कर देते हैं। फिर कभी-कभी ये जीवाणु हमें मारते भी हैं। कुछ तो हमें इसलिए मार सकते हैं कि वो किसी और शरीर में पहुंच सकें। लेकिन ज्यादातर बुखार मृत्यु का कारण नहीं बनते। क्योंकि हमारा शरीर उन्हें संभालने की काबिलियत रखता है। दूसरे जीवाणु उन्हें मारने के लिए प्राकृतिक ऐंटीबायोटिक भी बनाते हैं। आजकल तो हम बाजार से खरीद के ऐंटीबायोटिक भी खा सकते हैं।

हमारा पृथ्वी के प्रति बर्ताव बीमारी फैलाने वाले जीवाणुओं की तरह होता जा रहा है। हम उसे बुखार और नजला दे रहे हैं, अपनी कार्बन की गैसों से, जो जलवायु परिवर्तन के रूप में दिख रहा है। पर ये लड़ाई हम हार ही सकते हैं, जीत नहीं सकते। अगर हम अपने यजमान को मार डालें तो हमें जीवाणुओं की तरह कोई और दूसरा यजमान नहीं मिलेगा। हमें कोई ऐसा ग्रह नहीं पता जहां हमारा जीवन चल सके। और अगर पृथ्वी ने अपने ऐंटीबायोटिक निकाल दिए तो हमारा बचना नामुमकिन है। अगर आज नहीं तो 20, 50, या 100 साल बाद!

और अगर हम जलवायु परिवर्तन को झेल कर बच पाए तो संयुक्त राष्ट्र की सौदेबाजी, बहस और संधियों की वजह से नहीं। हम तो बचेंगे साथ मिलकर कष्ट झेलने की क्षमता से। और जो जितना गरीब है, उसमें ये क्षमता ज्यादा है। चाहे गांव हो या शहर, गरीब बस्ती में लोग एक दूसरे के सुख-दुख में साथ देते हैं। चूंकि जिसके पास ज्यादा साधन नहीं हों, वो अपने आस-पास के लोगों को साधन मानता है। वैसे भी गरीब का घर इतना बड़ा नहीं होता कि वो पूरा दिन भीतर घुस के ही काट दे। जिसके पास भोग विलास के अनंत उपाय हों, उसके लिए दूसरे लोग अड़ंगा ही होते हैं क्योंकि वो उसके विलास का हिस्सा मार लेते हैं।

इसी भोग-विलास को हमारे सारे नेता विकास कहते हैं। वो बहुत पढ़े-लिखे आदमी कहे जाते हैं। पर अर्थशास्त्र में बाइबल नहीं पढ़ाई जाती। बर्ना उन्हें पता होता कि दीन लोगों को ही धरती का अधिकारी माना गया है।

इंडियन एक्सप्रेस, आउटलुक ट्रेवलर, तहलका, वाशिंगटन पोस्ट और डाउन टू अर्थ जैसे प्रतिष्ठित अखबारों, पत्रिकाओं में काम कर चुके श्री सोपान जोशी अब गांधी शांति प्रतिष्ठान में शोध कर रहे हैं।





# ऐसे भी बने हैं तालाब

योगेश अनेजा

जमीन खोदने वाली बड़ी मशीनें कुछ गांवों में पहुंच ही रही हैं। ये ही वो गांव हैं, जिनमें हाथ से काम करने की लंबी स्वस्थ परंपरा अभी कई मिले जुले कारणों से अवकाश पर है, छुड़ी पर है। ऐसी विचित्र हालत में महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र में एक गांव वलनी ने इन बड़ी मशीनों को थोड़े घरेलू स्वभाव में बदलने की कोशिश की है।

**“आज** अनपूछी ग्यारस है। देव उठ गए हैं। अब अच्छे-अच्छे काम करने के लिए किसी से कुछ पूछने की, मुहूर्त दिखवाने की जरूरत नहीं है। एक नया तालाब जो बनने वाला है...” पाठकों को लगेगा कि अब उन्हें एक तालाब के बनने का, पाल बनने से लेकर पानी भरने तक का पूरा विवरण मिलने वाला है तो मैं पाठकों को विश्वास दिलाता हूं कि उन्हें निराशा नहीं होगी।

आज से चौदह वर्ष पहले जब मैं पहली बार नागपुर तालुका के वलनी गांव पहुंचा था तो वहां का उन्नीस एकड़ का सूखा तालाब देखकर यह नहीं लगा था कि यह तालाब हजारों लाखों तालाब बनाने की चाह रखने वाले लोगों के लिए एक प्रकाश स्तंभ साबित होगा। चलिए आज आपको तालाब बनाने के दो आसान तरीके बताते हैं जो इकाई दहाई सैंकड़ा हजार से शून्य हो गई तालाब बनाने की संख्या को भले ही हजार लाख तक न सही, कुछ सैंकड़ा तक तो पहुंच ही सकता है।

कई वर्षों तक संत्रियों, मंत्रियों, सरकार से तालाब ठीक करने की गुहार लगाकर निराश हो चुके वलनी गांव के लोगों ने एक बैठक की। बैठक में सभी ने एकमत से इस बात पर सहमति जताई कि तालाब को ठीक करना है तो अब

खुद ही कुछ करना होगा। तालाब की मिट्टी उपजाऊ है यह तो सभी जानते थे। एक जेसीबी मशीन व चार टिप्पर यानी मिट्टी खोदने की एक मशीन व हाईड्रोलिक सिस्टम से ऊपर उठाकर मिट्टी नीचे गिराने वाले चार ट्रक किराए पर लिए गए। इन सबका एक दिन यानी आठ घंटे का किराया बैठता था 16000 रुपए। इन आठ घंटे में 40 ट्रक मिट्टी खोदकर गांव वालों ने अपने-अपने खेतों में उसे डाला। एक ऐसी ट्रिप, किसी ने 2000 ट्रिप। इस तरह पिछले 6 वर्षों में 8 लाख रुपए की मिट्टी किसानों ने अपने-अपने खेतों में डाली और यह सब उसी विदर्भ क्षेत्र

**पिछले 6 वर्षों में 8 लाख रुपए की मिट्टी किसानों ने अपने-अपने खेतों में डाली और यह सब उसी विदर्भ क्षेत्र में हुआ, जिस क्षेत्र के किसान आत्महत्याएं कर रहे हैं। जिस-जिस खेत में तालाब की यह उपजाऊ मिट्टी पहुंची, उस खेत की फसल दो गुनी हो गई।**

में हुआ, जिस क्षेत्र के किसान आत्महत्याएं कर रहे हैं। जिस-जिस खेत में तालाब की यह उपजाऊ मिट्टी पहुंची, उस खेत की फसल दो गुनी हो गई। तालाब भी हर वर्ष गहरा होता गया और इस तरह यहां के अकाल से जूझने की उसकी ताकत भी बढ़ती गई। फसल भी दो गुनी पानी भी चौगुना। किसान को भला और क्या चाहिए। इस वर्ष तो सोने पर सुहागा हो गया। नागपुर के दो धनी व्यक्तियों ने जिनकी वलनी गांव में खेती है, अपने खुद के खर्चे पर मशीन व टिप्पर किराए पर लाकर तालाब की मिट्टी खोदकर अपने खेतों में डाली। इससे एक और बात साफ हो गई कि जिन धनी व्यक्तियों

ने गांवों में खेत खरीदे हैं, वे भी यदि पहल करें तो गांव के तालाबों की दशा बदल जाए। रासायनिक खादों के अंधाधुंध उपयोग से बर्बाद हो चुकी खेत की मिट्टी और ज्यादा रासायनिक खाद डाले बिना फसल देती नहीं। तब यह हल कितना शानदार है कि खेती भी सुधरे और तालाब भी। यहां विदर्भ में जहरीले खाद खाकर मर से चुके खेतों को नया जीवन मिला है इससे। तालाबों में बहकर आई मिट्टी तो सोना है इसकी तो लूट मचनी चाहिए। समय के साथ बुझकर मर रहे तालाबों के पुनर्जीवन के लिए यह फार्मूला रामबाण औषधि है।

जैसे-जैसे वलनी गांव के तालाब में पानी रुकना शुरू हुआ, वैसे-वैसे वलनी गांव के लोगों का आत्मविश्वास बढ़ा। बानगी देखिए: वलनी गांव से लेकर साथ के गांव सांवरमेंदा तक प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना की सड़क बननी शुरू हुई। सड़क के निर्माण का ठेका जिस ठेकेदार श्री अशोक बुद्धिराजा को मिला था, उनसे गांव के सरपंच से संपर्क किया और उन्हें बताया कि सड़क बनाने के लिए मुरुम, मिट्टी, पत्थर, पानी आदि की जरूरत पड़ेगी। फिर सड़क निर्माण में लगने वाले

वाले मजदूरों के रुकने व रहने ठहरने की व्यवस्था भी तो करनी है।

सरपंच ने उनसे कहा कि हमारे गांव के तालाब में एक तरफ का हिस्सा मुरुम वाला है। यदि वे चाहे तो उस हिस्से को खोद दें और अपना काम निकाल लें। तालाब से पानी भी ले सकते हैं। मजदूरों के ठहरने की जगह भी हम गांव में दे देंगे। ठेकेदार ने शंका जताई कि तालाब खोदने पर प्रशासन की तरफ से अडंगा डाला जाएगा तो? सरपंच ने कहा कि आप गांव की भलाई का काम कर रहे हैं। यदि कोई अडंगा आया तो हम सब आपका साथ देंगे। ठेकेदार ने बात मान ली और तीन महीने तक लगातार रात-दिन खोदकर तालाब का 2 एकड़ का एक हिस्सा 15 फुट गहरा कर दिया। तालाब भी गहरा हो गया। सड़क भी बन गई। जब यह सब हो रहा था तो क्षेत्र के नायब तहसीलदार काम देखकर गए ही थे। उन्होंने कोई सरकारी अडंगा नहीं डाला था। इतनी दूरदृष्टि और देशप्रेम तो सभी के मन में है। खैर तालाब तो खुद गया। अब गांवों ने ठेकेदार को कहा कि आपसी समझबूझ से सभी काम पूरे हो गए हैं। लेकिन एक कमी है। तालाब तो गहरा हो गया है लेकिन इसमें पानी आवक बढ़ाने के लिए एक आधा किलोमीटर की नहर और खोदने की जरूरत है। यह नहर गांव के एक बड़े भाग में बरसने वाले पानी को घेरकर तालाब तक पहुंचा देगी।

ठेकेदार को लगा कि 70 वर्ष की मेरी उम्र है। आज तक सैंकड़ों सड़कें मैंने अपने जीवन में बनाई हैं। कई सरकारी लोगों को कितनी ही रिश्तत मैंने दी है। प्रकृति का न जाने कितना नुकसान किया है काम करने के दौरान मैंने। लेकिन आपके गांव में तालाब बनाकर मेरी आत्मा भीतर तक प्रसन्न हो गई है। मैं खुद भी अब इस तालाब को पानी से पूरा भरा हुआ देखना चाहता हूं।

उस ठेकेदार ने लगातार छह दिन तक जेसीबी मशीन अपने खर्च पर चलाकर लगभग आधा किलोमीटर लंबी नहर बना दी। गांव के लोगों को विश्वास था कि ऐसा करने से उनके तालाब में बहुत पानी आएगा और बरसात होने पर

**गांव वालों के अनुरोध पर यहां से मुरुम, मिट्टी, पत्थर निकाल कर मैंने सड़क बनाने का काम किया है। और उसी में यह सुंदर तालाब बन गया है। अधीक्षक अभियंता ने उन्हें कहा कि शीघ्र ही हम ऐसा सरकारी नियम बनाएंगे कि जहां-जहां सड़क व अन्य निर्माण का काम हो रहे हैं, उसमें लगने वाली तमाम सामग्री करीब के ही गांवों से इस तरह से ली जाए कि जल संग्रह के लिए पुराने बने तालाब सुधर जाएं और हो सके तो वहां कुछ नया काम भी, नए तालाब का निर्माण भी हो जाए। विकास के साथ विवेक के इस्तेमाल से ही सच्चा विकास संभव है।**

हुआ भी ऐसा ही। इस नहर से होकर इतना पानी आया कि तालाब पूरा भर गया। किस्सा यहां खत्म नहीं हुआ। किस्सा तो अब यहां से शुरू होता है।

भरा हुआ तालाब देखकर ठेकेदार अपने मालिक यानी महाराष्ट्र प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना के अधीक्षक अभियंता श्री पी.एल. कडू व जिला परिषद के अधीक्षक अभियंता श्री विनाश कुंभारे को लेकर वलनी

**रासायनिक खादों के  
अंधाधुंध उपयोग से बर्बाद  
हो चुकी खेत की मिट्टी  
और ज्यादा रासायनिक खाद  
डाले बिना फसल देती नहीं।  
तब यह हल कितना शानदार है  
कि खेती भी सुधरे और तालाब  
भी। यहां विदर्भ में जहरीले  
खाद खाकर मर से चुके  
खेतों को नया जीवन  
मिला है इससे।**

गांव आए। इतने बड़े तालाब की तरफ इशारा करके उन्होंने कहा कि देखिए यह तालाब मैंने बनाया है। गांव वालों के अनुरोध पर यहां से मुरूम, मिट्टी, पत्थर निकाल कर मैंने सड़क बनाने का काम किया है। और उसी में यह सुंदर तालाब बन गया है। अधीक्षक अभियंता ने उन्हें कहा कि शीघ्र ही हम ऐसा सरकारी नियम बनाएंगे कि जहां-जहां सड़क व अन्य निर्माण का काम हो रहे हैं, उसमें लगने वाली तमाम सामग्री करीब के ही गांवों से इस तरह से ली जाए कि जल संग्रह के लिए पुराने बने तालाब सुधर जाएं और हो सके तो वहां कुछ नया काम भी, नए तालाब का निर्माण भी हो

जाए। विकास के साथ विवेक के इस्तेमाल से ही सच्चा विकास संभव है।

गांव वाले ये सब बातें सुन ही रहे थे। उनमें एक ने कहा कि यदि ऐसा हो जाए तो पानी की समस्या ही बहुत हद तक ठीक हो सकती है। जब मैंने यह सब सुना तो मैंने भी मन में सोचा कि सच है जब दूसरे गांवों के लोग भी वलनी गांव के लोगों की तरह जागरूकता दिखाएंगे, अपने गांव की जमीन पर अपना स्वामित्व समझेंगे, हमारे गांव में हम सरकार को चारितार्थ करेंगे और सरकारी अधिकारी भी काले अफसरी का अपना चोला उतार कर फैंक देंगे तो फिर से हमारा जीवन कुछ रिचार्ज हो जाएगा।

लेखक नागपुर शहर में मोटरों के कलपुर्जों का कारोबार करते हुए अपने आसपास के गांवों के सामाजिक कलपुर्जों का भी खूब जतन से ध्यान रखते हैं।



# चना जोर गरम

मंजू देवी

**हमारे** जीवन की गति एक गीत की तरह रही है। गीत की लय, ताल, छंद, सुर— सबका रसपान करते हुए जीवन की गाड़ी चला करती थी। सुख तो ठीक दुख भी आते तो भी मिल-जुलकर यह सब खिंच जाता था। हरेक का जीवन दूसरे के जीवन के सहारे एक स्नेह के मजबूत धागे से बंधा रहा है। कभी हमारे जीवन की गाड़ी अटकती-सी दिखे तो आसपास के चार हाथ उसे धक्का लगा आगे बढ़ा देते थे।

आज देश की गाड़ी, संसद अटक गई है। और उसे धक्का देकर आगे बढ़ाने वाले चार हाथ नहीं मिल रहे। सरकार खुदरा व्यापार में विदेशी पैसा डालने वालों का रास्ता खोलना चाहती है। कुछ को लगता है कि इससे घरेलू छोटे व्यापारी के सारे दरवाजे हमेशा के लिए बंद हो जाएंगे।

हजारों हाथों के कामों को छीन कर कुछ नए दो-चार हाथों में सौंप देने की यह पहली घटना तो नहीं है। आज जो इस कदम का विरोध कर रहे हैं, उनके हाथ भी जब सत्ता थी तो उन्होंने भी इसी तरह की नीतियों को बढ़ावा दिया था। हाथ से काम और मुंह से कौर छीनने का यह दौर नया नहीं है। हो सकता है कि संसद की अटकी गाड़ी फिर चल निकले। पर मुख्य चिंता तो उस व्यापार की है जो बहुत ही छोटे पैमाने पर बिना अपने आसपास का या दूर का भी पर्यावरण बिगाड़े हजारों लोगों को सार्थक काम, आमदनी देता था और अपने लोगों की ऐसी आत्मीय सेवा करता था, जिसे उपभोक्तावाद के किसी भी तराजू पर तोला नहीं जा सकता था।

वह आत्मीय व्यापार इतना टूट गया है, इतना बिखर गया है कि उसका आज व्यवस्थित वर्णन भी करना संभव नहीं बचा है। पर कुछ छिटपुट बातों को तो यहां दुहरा ही लेना चाहिए।

आज देश के गली मुहल्ले, कुएं, तालाब, छोटी बड़ी नदियां सब कुछ प्लास्टिक के कचरे से पट गया है। यह प्लास्टिक, सारा का सारा कचरा खुदरा व्यापार की चीजों को रंगबिरंगा बनाकर बेचने वालों की देन है। एक तरह इसने छोटे-छोटे धंधों से, छोटे-छोटे इलाकों की आत्मीय और भरोसेमंद सेवा करने वालों से काम छीना और दिया है यह कचरा, जो न जाने कब तक यहां पड़े-पड़े सड़ेगा

**सरकार खुदरा व्यापार में विदेशी पैसा डालने वालों का रास्ता खोलना चाहती है। कुछ को लगता है कि इससे घरेलू छोटे व्यापारी के सारे दरवाजे हमेशा के लिए बंद हो जाएंगे। हजारों हाथों के कामों को छीन कर कुछ नए दो-चार हाथों में सौंप देने की यह पहली घटना तो नहीं है। आज जो इस कदम का विरोध कर रहे हैं, उनके हाथ भी जब सत्ता थी तो उन्होंने भी इसी तरह की नीतियों को बढ़ावा दिया था।**

भी नहीं। ऐसी ही प्लास्टिक की थैलियां हमारी मां कही जाने वाली गाएं खाकर अपनी जान तक गंवा रही हैं। भैंस, बकरी और दूसरे जानवरों की भी जान जा रही है सो अलग।

यह तो हुई पर्यावरण की बर्बादी, उन मूक प्राणियों की बर्बादी जो हमसे कोई शिकायत भी नहीं कर सकते। पर इसमें हम, हमारा समाज भी कितना कुछ खो रहा है, इसका हमें पता तक नहीं है। खाद्य पदार्थों के सारे नियमों को ताक पर रख कर इन नमकीनों की मालाएं यहां से वहां पूरे देश में हर गली-नुक्कड़ की दूकानों में टंगी हैं। दो-पांच रुपए और उससे भी मंहगी ये नमकीन पुड़ियां न जाने कितनी तरह का अपना बासापन छिपाए, किसी बड़े नाम, नामी खिलाड़ी, नामी अभिनेता की पसंद का

झंडा उठाए हमारे घरों में घुसते ही चली आ रही हैं।

क्या इस सब होहल्ले और तड़क भड़क के बीच आपको अपनी गली में एक निश्चित समय पर आने वाली 'चना जोर गरम' की आवाज याद नहीं आ रही? एक छोटे से टीन कनस्तर में या टोकरे में स्वाद, प्यार और पारिवारिक निष्ठा का भरा पूरा संसार टांग कर फेरी लगाने वाला वह आदमी अभी हमारी आंखों से पूरी तरह ओझल नहीं हुआ है।

अपने नुक्कड़ के पनसारी से, भड़भूजे से हर दो-तीन में ताजे चने खरीद उन्हें अपने हाथ से पानी में भिंगो कर फुलाने, गलाने का काम वह पूरी साफ सफाई से करता था। फिर बिना किसी कारखाने के, मशीनों के वह उन चनों को अपने परिवार के दूसरे हाथों की मदद से लोढ़े से दौंचकर चपटा करता था। फिर उनमें पीढ़ियों के अनुभवी अनुपात से उन मसालों को मिलाता था, जिन्हें उसी

परिवार में पूरी शुद्धता से बनाया गया था।

इस तरफ तैयार किया माल निवार से बने पट्टे की मदद से सजी टीन की पेटी में भरा जाता। यह पेटी भी उसके घर की खूंटी पर दो पीढ़ी तो टंगी ही रहती। कहीं-कहीं सुंदर टोकरा काम आता था। न बनते समय प्रदूषण, न कीमती साधनों की, अल्यूमिनियम की रोज-रोज की बर्बादी। न बिक्री के बाद चारों तरफ फैलता कचरा। न विज्ञापन और न असंतुष्ट उपभोक्ताओं के ज्ञापन, शिकायतें।

बाबूओं को बताता कि वह चना जोर गरम ले आया है। और इस बाबू के संबोधन में पूरा परिवार, समाज आ जाता था। वह गाता, इठलाता अपने जिस किसी भी ग्राहक के सामने आकर रुकता, उसे उसका, पूरे परिवार का स्वाद जैसे कंठस्थ-सा रहता था। उसी के अनुपात का मसाला, खट्टा, मीठा मिला कर जब उसको वह पुड़िया भेंट करता था तो छोटे-बड़े हर किसी को बस ऐसा ही लगता कि यह तो खास उसी के लिए बन कर आया है। आज के मंहगे से मंहगे रंगीन चमकदार कुरमुरे के पैकेट उस पुराने अखबार से बनी पुड़िया के आगे टिक नहीं सकते थे।

चना जोर गरम अकेला नहीं था। उसके साथ ठंडी मलाई-कुलफी, बरफ, खस्ता नमकीन, बुढ़िया के बाल, कंचे की गोली वाली बोतल— न जाने क्या क्या था उस भरे-पूरे संसार में। नई नीतियों ने, खुदरा व्यापार ने, मशीनों ने हाथ के उस काम को लात मारी थी। वह खुदरा व्यापार खुद विदेशी विचार पर टिका था। आज उसी खुदरा व्यापार को विदेश से आने वाली थोक पूंजी का डर सता रहा है। जो डराता है वह भला कैसे निर्भय रह पाएगा!

इस डराने और डरने वाले व्यापार के बीच न जाने कब फिर भी आवाज सुनाई दे जाए “चना जोर गरम!”

**आज उसी खुदरा  
व्यापार को विदेश से  
आने वाली थोक पूंजी  
का डर सता रहा है। जो  
डराता है वह भला  
कैसे निर्भय रह पाएगा!**

लेखिका बनारस के एक महाविद्यालय में पढ़ाती हैं और उत्तर प्रदेश शासन की ओर से नियुक्त किशोर न्याय बोर्ड के माध्यम से बाल अपराधियों के सुधार के काम में भी लगी हैं।



# पुराना चावल

## एक ही प्रश्न: हिंसा

आचार्य राममूर्ति

**क्या** आपको विश्वास होगा कि ऐसा भी एक गांव है जिसमें पिछले लगभग दस वर्षों में 20 हत्याएं हुई हैं, और उसके आस-पास के क्षेत्र में शायद 70-80? बढ़ते-बढ़ते स्थिति यहां तक पहुंच गई है कि ढाई-तीन सौ गांवों का एक बड़ा क्षेत्र चोरी, डकैती, हत्या आदि से त्रस्त है। दिन-दहाड़े आक्रमण होते हैं, खुलकर लड़ाइयां होती हैं, बंदूकें चलती हैं, घर लूटे और जलाए जाते हैं, लोग मौत के घाट उतारे जाते हैं। लगता नहीं कि कहीं समाज है, सरकार है।

गांव का नाम है अमैया। पिछली जुलाई में जब एक दिन सुबह गांव से स्टेशन पैदल रास्ते से जाते हुए 6 आदमी एक साथ काट डाले गए तो अचानक अमैया गांव अखबारी दुनिया में आ गया। तब से अमैया, अमैया ही नहीं बल्कि पूरा क्षेत्र— प्रश्न और चुनौती बना हुआ है।

16 जून 1980 को अमैया पर 10 बजे दिन को सशस्त्र आक्रमण हुआ। चार जुलाई 1980 को दूसरे 6 लोगों की हत्याएं हुईं। तब से आज तक घटनाओं का क्रम जारी है। न गरीब की बहू-बेटी सुरक्षित है, न अमीर का धन और न विरोधी की जान। मुंगेर से लेकर भागलपुर तक गंगा के किनारे के पूरे दक्षिणी क्षेत्र में अपराधकर्मियों के अनेक गिरोह बन गए हैं। कहीं भूमिहार और गंगौता का संघर्ष है, कहीं राजपूत और यादव एक ओर हैं तो कुशवाहा (कोदरी) दूसरी ओर। अपराध का अब जातीय आधार बन गया है। जो जाति जहां अल्प संख्या में है वह भय और असुरक्षा का जीवन बिताने को विवश है। धन की लूट, औरत की लूट, चुनाव में बूथ की लूट— इस त्रिविध लूट के समाज त्रस्त है। क्या समाज, क्या सरकार, हर एक असहाय है, किसी को इसका कहीं अंत नहीं दिखाई देता। पुलिस की बंदूकें भी बेकार हो गई हैं। समाज केवल अपने संस्कार से चल रहा है।



कौन हैं ये 'गैंग लीडर' जिन्होंने अपराधों का राज कायम कर रखा है? कैसे गिरोहों का संघर्ष जातियों का संघर्ष बन गया और कैसे जाति-संघर्ष को इतनी प्रतिष्ठा मिल गई? कैसे अपराध राजनीति के साथ जुड़ गया? किसने गांव वालों को 'अल्पसंख्यक' और 'बहुसंख्यक' की भाषा सिखाई? पुलिस ने अब तक क्या किया? इतनी गहरी और व्यापक हिंसा का बीज कब, किसने बोया, और बढ़कर उसका वृक्ष पूरे जन-जीवन पर छा गया? ये प्रश्न हैं जिनकी छानबीन किए बिना न तो समस्या का सही स्वरूप निखरेगा और न उसका समाधान ही सूझेगा।

जीवन में सदा से हिंसा का एक स्थान रहा है। हिंसा का संस्कार जीवन के ताने-बाने में समाया हुआ है। समाज के विकास-क्रम में हिंसा ने सामाजिक संबंधों में अपना रोल अदा किया है। परिवार में स्त्री, स्कूल में विद्यार्थी, खेत में मजदूर, गांव में हरिजन सदा से दंड और दमन के पात्र रहे हैं। राज्य-शक्ति की तो रचना ही संगठित हिंसा के आधार पर हुई है।

लेकिन जिस क्षेत्र की हम चर्चा कर रहे हैं, उसमें 1942 से लेकर आज तक हिंसा के विकास का एक रोचक इतिहास है: 'भारत छोड़ो' आंदोलन में कांग्रेस के देशभक्तों की एक धारा अहिंसा के रास्ते को छोड़कर शस्त्रधारी बन गई थी। मुंगेर के शस्त्रधारियों ने एक अड्डा अमैया गांव के बिलकुल पास एक छोटी पहाड़ी पर बनाया था। बरसात के कई महीने गंगा के पानी से घिरे रहने के कारण दियारे का यह स्थान गुप्त कार्यों के लिए अत्यंत उपयुक्त था। देशभक्तों को लड़ाई के लिए बंदूक की जरूरत थी, बंदूक के लिए धन चाहिए, और धन के लिए डकैती जरूरी हो गई थी। तब उन्होंने युवकों के दल बनाए और काम शुरू कर दिया।

एक ओर डाके डाले जाने लगे, और दूसरी ओर अपराधों के दमन का कार्यक्रम शुरू हुआ। इस पूरे क्षेत्र में लगभग 4 महीने तक अंग्रेजी राज ठप्प रहा। शासन देशभक्तों ने चलाया। उनके आदेश से अपराधियों के हाथ काटे गए,

**1942 से लेकर आज तक हिंसा के विकास का एक रोचक इतिहास है: 'भारत छोड़ो' आंदोलन में कांग्रेस के देशभक्तों की एक धारा अहिंसा के रास्ते को छोड़कर शस्त्रधारी बन गई थी। मुंगेर के शस्त्रधारियों ने एक अड्डा अमैया गांव के बिलकुल पास एक छोटी पहाड़ी पर बनाया था। बरसात के कई महीने गंगा के पानी से घिरे रहने के कारण दियारे का यह स्थान गुप्त कार्यों के लिए अत्यंत उपयुक्त था। देशभक्तों को लड़ाई के लिए बंदूक की जरूरत थी, बंदूक के लिए धन चाहिए, और धन के लिए डकैती जरूरी हो गई थी।**

आंखें निकाली गईं। चारों ओर 'जनता राज' का दबदबा छा गया। और इस प्रकार जनता को स्वराज के नाम में अपराध और हिंसा की दीक्षा मिली।

इस प्रकार सन् 1942 से 47 तक हिंसा का दीक्षा-काल था, जिसमें जनता ने देखा कि कोई ऐसी भी परिस्थिति होती है जब अपराध सत्कर्म बन जाता है और हिंसा ऊंचे उद्देश्य का साधन बन जाती है।

**सन् 1958 में एक नैतिक प्रयोग शुरू हुआ जब विनोबाजी के आंदोलन में अमैया के पड़ोसी गांव बेरायं का ग्रामदान हुआ, और कई गांवों का सघन क्षेत्र बनाकर रचनात्मक कार्य की शुरूआत हुई। स्वयं अमैया गांव में घर-घर चर्खे शुरू किए गए। सर्वोदय-कार्यकर्ताओं की सेवा से लोगों पर इतना प्रभाव पड़ा कि एक के बाद एक अपराधकर्मियों में शस्त्र-समर्पण की प्रेरणा तक जाग गई। समर्पण की तैयारी से पुलिस को चिंता हुई।**

सन् 1952 में पहला आम चुनाव हुआ। उस समय कांग्रेस के मुकाबले में कोई शक्ति नहीं थी, फिर भी इस निर्वाचन क्षेत्र से बिहार-केसरी डा. श्रीकृष्ण सिंह बहुत थोड़े वोटों से किसी तरह जीते, बल्कि जिताए गए। अधिकारियों ने उनकी जीत के लिए यह कहकर गलत तरीके अपनाए कि श्री बाबू की हार भावी मुख्यमंत्री की हार है। उस वक्त भी इस क्षेत्र में बैकवर्ड-फारवर्ड की भावना बहुत तीव्र थी। इस भावना के बीज जमींदारी के दिनों में ही पड़ चुके थे जब जमीन जोतने वाले लोग, जो प्रायः बैकवर्ड और हरिजन होते थे, लगान न दे सकने के कारण जमींदार की जमीन वापस कर देने को विवश हो जाते थे। ऐसी जमीन का जमींदार किसी 'भले आदमी' के हाथ बंदोबस्त कर देता था। इस इलाके में

बनैली राज ने ऐसी जमीन का बंदोस्त अनेक ऐसे लोगों के हाथ किया था जो पूर्वी उत्तर प्रदेश से गए हुए थे और राज में छोटी-मोटी नौकरी करते थे। आज इतने वर्ष बीत जाने के बाद भी वे 'पछियारा लोग' कहलाते हैं और अधिकांश सवर्ण हैं।

जिन लोगों ने इस तरह अपनी जमीन खोई थी उनके दिल का दर्द चुनाव में प्रकट हुआ, और उस वक्त जो दरार पैदा हुई वह आज भी न सिर्फ बनी हुई है, बल्कि दिनों-दिन बढ़ती ही जा रही है। तब से अब तक कई नई दरारें पड़ चुकी हैं, कोई पुरानी दरार मिटी नहीं है।

सन् 1958 में एक नैतिक प्रयोग शुरू हुआ जब विनोबाजी के आंदोलन में अमैया के पड़ोसी गांव बेरायं का ग्रामदान हुआ, और कई गांवों का सघन क्षेत्र बनाकर रचनात्मक कार्य की शुरूआत हुई। स्वयं अमैया गांव में घर-घर चर्खे शुरू

किए गए। सर्वोदय-कार्यकर्ताओं की सेवा से लोगों पर इतना प्रभाव पड़ा कि एक के बाद एक अपराधकर्मियों में शस्त्र-समर्पण की प्रेरणा तक जाग गई। समर्पण की तैयारी से पुलिस को चिंता हुई। पुलिस वालों ने कहा: 'हमारी फीस तो देनी ही होगी। अपराधकर्मियों ने सोचा: 'जब पुलिस अपना दाम नहीं छोड़ती तो हम अपना काम कैसे छोड़ें? बनता काम बिगड़ गया। दूध में मक्खी पड़ गई। चोरी-डकैती होती रही, पुलिस को घूस मिलती रही। उस समय अपराधकर्मियों का एक ही गिरोह था, जिसे फसलों की चोरी और डकैती से अच्छी कमाई हो जाती थी। अपराध एक पूरक धंधा था।

धीरे-धीरे पूरक धंधा दिन-रात का पेशा बन गया। दूसरे गांव के लोग आपसी झगड़े में अमैया के गिरोह की 'सेवा' लेने लगे। गांव के जीवन में बदला लेने का बड़ा महत्व है, इसलिए ऐसे गृहस्थों को जो स्वयं गुंडे नहीं होते, लेकिन बदला लेना चाहते हैं, गुंडों की सेवा की

जरूरत पड़ती है। तब सामाजिक जीवन में अनुशासन रखने वाली मर्यादाओं और मान्यताओं के अनौपचारिक तंत्र टूट जाते हैं। कानून निरर्थक हो जाता है तो गुंडा हीरो बन जाता है। दंगों में यही होता है। खैर उस क्षेत्र में अपराध बढ़ता गया और छोटे अपराधकर्मी बड़े बनते गए। धीरे-धीरे लूट के धन को लेकर भीतरी विवाद भी पैदा हुए जिसके कारण सम्मिलित गिरोहों में जाति के आधार पर दरारें पड़ गईं, जो प्रायः ऐसे हर गिरोह में होता है।

सन् 1980 के चुनावों में अपराधकर्मियों ने खुलकर भाग लिया, क्योंकि उस वक्त तक चुनावी राजनीति दलों की नहीं रह गई थी, जातियों की हो गई थी, और हार जीत जाति की इज्जत का सवाल बन गई थी। व्यापक पैमाने पर मतदान केन्द्रों पर कब्जा हुआ।

इस समय हालत यह है कि अपराध, जाति और राजनीति एक लाइन में हैं। देखने में अपराधकर्मी सामने दिखाई देते हैं लेकिन उनके पीछे दूसरे लोग हैं जो अपराधकर्मी नहीं कहे जाते हैं। अपराध एक बड़ा मंच बन गया है, जिस पर अपराधी, पुलिस, राजनैतिक दल— तीनों साथ दिखाई देते हैं। एक दूसरे से काम बनता है। आज की राजनीति में अपराध की एक निश्चित भूमिका है। जनता से कटकर और अपराधी से जुड़कर दलीय राजनीति स्वयं एक भीषण अपराध बन

**सन् 1980 के चुनावों में  
अपराधकर्मियों ने खुलकर  
भाग लिया, क्योंकि उस वक्त  
तक चुनावी राजनीति दलों की  
नहीं रह गई थी, जातियों की  
हो गयी थी, और हार जीत जाति  
की इज्जत का सवाल बन गई  
थी। व्यापक पैमाने पर मतदान  
केन्द्रों पर कब्जा हुआ।**

गई है, जिसके सामने एक बड़ा लक्ष्य है सरकार बनाना और पीछे एक बड़ा सिद्धांत है लोकतंत्र!

राजनीति के द्वारा समाज की शक्ति संगठित होती है, उसका निर्णय प्रकट होता है। इसी आधार पर राज्य-शक्ति का गठन होता है; सरकार बनती है जिसके द्वारा समाज का नियमन और संचालन होता है। इसलिए स्पष्ट है कि अगर किसी देश की राजनीति में भ्रष्टाचार तथा हिंसा का प्रवेश हो जाए तो जीवन के दूसरे

पैरवी, दलाली, ठगी की कमाई खाने वाले और अक्सर नेताओं के इर्दगिर्द रहने वाले लोग; तस्करी, चोर-बाजारी आदि से धन कमाने वाले और उनके लठैत; दलीय राजनीति और पंचायती राज सरकार की विषमता की अर्थनीति, उसके कानून जिन्होंने सामाजिक अनुशासन को समाप्त कर दिया है और जबरदस्त के डंडे, धनी की थैली को न्याय के ऊपर बिठा दिया है, सिनेमा से प्राप्त सैक्स और जीवन के अत्यंत दूषित मूल्य, हरिजनों आदिवासियों आदि के प्रति समाज में बड़े कहलाने वाले, जिनने उनकी स्त्रियों और मजदूरों को सदा से अपनी वासना और शोषण का विषय माना ये सब ऐसी स्थितियां हैं जो हिंसा को जन्म देती हैं।

पहलू अछूते नहीं रह सकते। यहां तक कि राजनीति के नीचे गिर जाने से समाज की नैतिकता भी नीचे गिर जाती है। मूल्य निष्ठा का स्थान अवसरवादिता ले लेती है। इसलिए गांधीजी ने राजनीति पर अध्यात्म का रंग चढ़ाने को अपनी साधना का अंग माना था।

हिंसा की घटनाएं होती हैं, और अखबारों में उनकी खबरें छपती हैं तो लोगों को चिंता होती है। लेकिन अब यह समझ लेना चाहिए कि हिंसा अब घटनाओं तक सीमित नहीं रह गयी है; यह हमारे जीवन की पद्धति बन गई है। वस्तुतः हम हिंसा की संस्कृति में जी रहे हैं। जनता के दैनंदिन जीवन, राजनीति, प्रशासन, शिक्षा आदि से लेकर अंतरराष्ट्रीय जीवन तक संबंधों, संगठनों का शायद ही कोई क्षेत्र हो जिसमें किसी-न-किसी रूप में दमन और शोषण का निर्णायक स्थान न हो।

उदाहरण के लिए हम हिंसा और अपराध के कुछ मुख्य स्रोत यहां गिना सकते हैं। जमीन के झगड़े, बेरोजगारी,

कुशिक्षित युवक, समाज का परजीवी वर्ग, पैरवी, दलाली, ठगी की कमाई खाने वाले और अक्सर नेताओं के इर्दगिर्द रहने वाले लोग, तस्करी, चोर-बाजारी आदि से धन कमाने वाले और उनके लठैत; दलीय राजनीति और पंचायती राज सरकार की विषमता की अर्थनीति, उसके कानून जिन्होंने सामाजिक अनुशासन को समाप्त कर दिया है और जबरदस्त के डंडे, धनी की थैली को न्याय के ऊपर

बिठा दिया है, सिनेमा से प्राप्त सैक्स और जीवन के अत्यंत दूषित मूल्य, हरिजनों आदिवासियों आदि के प्रति समाज में बड़े कहलाने वाले, जिनने उनकी स्त्रियों और मजदूरों को सदा से अपनी वासना और शोषण का विषय माना— ये ऐसी स्थितियां हैं जो हिंसा को जन्म देती हैं।

इन तथा इसी तरह के अन्य कारणों से पैदा होने वाली हिंसा या अपराध वृत्ति अनेक रूपों में प्रकट हो रही है, जैसे जमीन की छीना-झपटी, जबरदस्ती कब्जा, झूठे मुकदमों, बेरोजगारी में अपराध की बेबसी, पशुओं के चारे के लिए फसलों को काट लेना, विद्यालयों में यूनियन बाजी और कुशिक्षित शिक्षकों और विद्यार्थियों के क्रियाकलाप, परीक्षा, पीड़ित युवक के द्वारा होने वाली गुंडागिरी, पुलिस की यातना, पंचायत से पार्लियामेंट तक हर संस्था और संगठन में चुनाव के सदाबहार संघर्ष तथा अंत में सस्ती कमाई। समाज के जीवन का कौन-सा क्षेत्र बचा है हिंसा से?

समाज में खुले या छिपे अपराधों और अपराधकर्मियों की अपनी एक अलग दुनिया बन गई है। तस्करी, चोरबाजारी, जोर-जबरदस्ती, लूट, हत्या, गांजा-भांग-शराब, बलात्कार, वैश्यावृत्ति, लड़कियों-लड़कों का व्यापार, जुआ लाटरी, पैरवी-दलाल, घूस, गबन, ठेकेदारी, सूदखोरी, अधिकारियों द्वारा अधिकारों का दुरुपयोग, चुनाव में बूथ की लूट— कुल मिलाकर समाज के जीवन में दमन, शोषण, हिंसा और भ्रष्टाचार का जाल बिछ गया है। न जाने कितने लोग दिन-रात इन कामों में लगे हुए हैं। और उन परिवारों की संख्या काफी बड़ी है जो अपराध की कमाई खा रहे हैं। सामान्य आदमी इनसे बचने का क्या उपाय करे? वह हैरान है यह देखकर कि अधिकांश अपराध पुलिस, कानून और राजनीति से प्रश्रय पा रहे हैं। उसने परिस्थिति को स्वीकार कर लिया है।

सबसे अधिक दुख और चिंता की यही बात है कि जिस राज्य-शक्ति को नागरिक अपना वोट देकर बनाता और नोट देकर चलाता है, और जिससे वह शांति, सुरक्षा और कल्याण की अपेक्षा रखता है, उस राज्य शक्ति की आज यह

**समाज में खुले या छिपे  
अपराधों और अपराधकर्मियों  
की अपनी एक अलग दुनिया  
बन गई है। तस्करी, चोरबाजारी,  
जोर-जबरदस्ती, लूट, हत्या,  
गांजा-भांग-शराब, बलात्कार,  
वैश्यावृत्ति, लड़कियों-लड़कों का  
व्यापार, जुआ लाटरी, पैरवी-दलाली,  
घूस, गबन, ठेकेदारी, सूदखोरी,  
अधिकारियों द्वारा अधिकारों  
का दुरुपयोग, चुनाव में बूथ की  
लूट कुल मिलाकर समाज के  
जीवन में दमन, शोषण,  
हिंसा और भ्रष्टाचार का जाल  
बिछ गया है।**

स्थिति है! इतना ही नहीं कि राज्य शक्ति इन चीजों को रोक नहीं पा रही है, बल्कि उल्टे उसके द्वारा हिंसा, अपराध, और भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिल रहा है।

पुलिस, कानून, न्याय, आर्थिक नीति-रीति, विकास, शिक्षा और राजनीति में क्या हो रहा है? कौन नहीं जानता कि अक्सर पुलिस और अपराधकर्मियों का गठबंधन रहता है? इस गठबंधन में नेताओं के मिल जाने से हिंसा की त्रिवेणी

**घाटे की खेती, जोतों का छोटी और अनार्थिक होते जाना, भूमिहीनता का बढ़ना, जमीन और खेती से उत्पादन का 'डिस्ट्रेस सेल', खेती के अलावा दूसरे धंधों का न होना आदि ऐसी चीजें हैं, जिनमें से किसी एक को भी रोकने की सामर्थ्य सरकार की किसी प्रचलित विकास योजना में नहीं है। रोकने को कौन कहे, ग्रामोद्योगों के संबंध में सरकार की नीति खेती की कमर तोड़ रही है, बेरोजगारी को बेतहाशा बढ़ा रही है और गांव में रहने वालों को रोटी के बचे-बचाए टुकड़ों के लिए कुत्तों की तरह लड़ने को विवश कर रही है।**

बन गई है। इस त्रिवेणी में स्नान करने वाले खुलकर कानून की अवज्ञा कर रहे हैं और गैरकानूनी, समाज-विरोधी उपायों से अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं। अगर पुलिस का यह हाल हो, और कानून और न्याय अनीति और अन्याय के कारण बन जाएं तो राज्य की बड़ी हिंसा समाज की छोटी हिंसाओं का दमन कैसे कर सकेगी? राज्य शक्ति समानांतर शक्ति के रूप में गुंडा राज तथा चोर बाजार की समानांतर अर्थनीति के सामने झुक जाए तो उसकी संगठित और इतनी खर्चीली हिंसा-शक्ति की उपयोगिता क्या रह जाएगी? हिंसा-शक्ति की जरूरत किसे है— स्वयं राज्य को अपनी रक्षा के लिए या समाज को?

पिछले तीस-बत्तीस वर्षों में आर्थिक और विकास की जो नीति-रीति चली है, उसकी जितनी भी बात की जाए, थोड़ी है। उसके दो परिणाम स्पष्ट प्रकट हुए हैं। एक यह कि जन-जीवन निहित स्वार्थी तथा भ्रष्ट तत्वों के हाथ में चला गया है। देश में संपन्न और विपन्न के बीच जो विषमता पैदा होती जा रही

है, वह अपनी जगह है। गलत व्यवस्था के कारण दैनंदिन जीवन में सामान्य आदमी को मामूली चीजों, साधनों और सुविधाओं के लिए ऐसे ही तत्वों का सहारा लेना पड़ता है। कितना भी गलत काम हो वह इन तत्वों के विरुद्ध आवाज उठा नहीं पता। दूसरा परिणाम यह हुआ है कि गलत आर्थिक नीति के कारण ग्रामीण जीवन में दरिद्रीकरण की प्रक्रिया इस तेजी से चल रही है कि विकास के नाम में रुपए चाहे जितने खर्च किए जाएं, यह प्रक्रिया रुक नहीं रही है। घाटे की खेती, जोतों का छोटी और अनार्थिक होते जाना, भूमिहीनता का बढ़ना,

जमीन और खेती से उत्पादन का 'डिस्ट्रेस सेल', खेती के अलावा दूसरे धंधों का न होना, आदि ऐसी चीजें हैं जिनमें से किसी एक को भी रोकने की सामर्थ्य सरकार की किसी प्रचलित विकास योजना में नहीं है। रोकने को कौन कहे, ग्रामोद्योगों के संबंध में सरकार की नीति खेती की कमर तोड़ रही है, बेरोजगारी को बेतहाशा बढ़ा रही है और गांव में रहने वालों को रोटी के बचे-बचाए टुकड़ों के लिए कुत्तों की तरह लड़ने को विवश कर रही है।

कुछ वर्ष पहले अमैया के पास एक बाजार धान-कुटाई का बहुत बड़ा केन्द्र था। यह सारा इलाका धान-खेती का रहा है। बाजार में कई हजार ढेकियां चलती थीं और गांव-गांव में धान-कुटाई होती थी। धान और चावल की ढुलाई बैलगाड़ियों से होती थी। इनसे हजारों बड़इयों, लोहारों, मजदूरों आदि की कमाई होती थी। लेकिन एक दिन ऐसा आया कि 'तकनालॉजी' के नाम पर और सरकार की सहायता से ढेकियों के स्थान पर 'हलर' आ गए और बैलगाड़ियों के स्थान पर ट्रैक्टर और ट्रक। देखते-देखते हजारों लोगों के हाथ का धंधा छिन गया। एक ओर खेती पर बेकारों का बोझ बढ़ा और दूसरी ओर लोग अपराधों की तरफ प्रवृत्त हुए। आखिर, पेट के लिए कुछ तो करना ही था! इस भयंकर स्थिति के लिए ग्राम-विरोधी अर्थनीति के सिवाय दूसरी किस चीज को दोषी माना जाए?

कठिनाई यह है कि सरकारी दिमाग, चाहे वह अफसर का हो, चाहे योजना बनाने वाले विशेषज्ञ या नेता का, वह गांव को कुछ 'घरों के समूह' के सिवाय दूसरा कुछ नहीं मानता। सचाई यह है कि हमारे गांव सदियों से एक 'इकाई' के रूप में विकसित हुए हैं जिनकी अर्थनीति परस्परवलंबी रही है तथा जीवन परस्पर पूरक रहा है। इसीलिए उनका जीवन राजा के कानून से नहीं, पंच परमेश्वर के निर्णय से चलता था। विदेशी राज और सन् 47 के बाद देशी राज की केन्द्रित अर्थनीति और राजनीति ने गांवों के जीवन को छिन्न-भिन्न कर डाला और उन्हें शहरों का उपनिवेश बना डाला, जिसके कारण एक ओर दरिद्रीकरण की प्रक्रिया तेज हुई और दूसरी ओर अलगाव बढ़ा। जिस रीति-नीति ने गांव को गांव नहीं रहने दिया, उसी को मानने वाले अब ट्रेड यूनियन के ढंग पर गरीबों के संगठन की बात कर रहे हैं और विकास के थोथे वादों पर मोहताज जनता को भुलावे में रख रहे हैं। उन्हें गांव के जीवन में एकता और सहमति का क्षेत्र ही नहीं दिखाई देता!

गुलामी के समय राष्ट्र की एकता को साम्राज्यवादी राजनीति ने तोड़ा, और उसके बाद गांव की बची-खुची एकता को राज्यवाद-दलवाद-जातिवाद ने तोड़ा। स्थिति यहां तक पहुंची है कि पूरे गांव को एक जगह बिठाना कठिन हो रहा है, क्योंकि गांव-गांव रहा ही नहीं। सहकारी समितियां बनीं, पंचायतें कायम हुईं।

पंचायती राज के नाम से विकेन्द्रीकरण का नाटक किया गया, लेकिन कुल मिलाकर क्या हुआ? नया शासक वर्ग बना। सरकार का परिवार बढ़ा। हर नया संगठन दल और जाति का अखाड़ा बना। इसके सिवाय दूसरा क्या हुआ? क्या दरिद्रीकरण और अलगाव में रत्तीभर भी अंतर पड़ा? गांव को इकाई माने बिना, उसका सहअस्तित्व और सहकार का रोल पहचाने बिना कैसे होगा विकास, सत्ता का विकेन्द्रीकरण या राष्ट्र के स्तर पर भावनात्मक एकता?

चाहे जैसे देखें इसी नतीजे पर पहुंचना पड़ता है कि हमारी केंद्रीय राज्य शक्ति निकम्मी और भ्रष्ट ही नहीं हुई बल्कि उसका रोल सर्वथा नकारात्मक हो गया है। समाज की भलाई करने की उसकी शक्ति अत्यंत सीमित हो गई है। उसकी व्यवस्था समस्याओं का समाधान ढूंढने में सर्वथा असमर्थ है। ऐसी स्थिति में देश के लोकतंत्र के ही नहीं, स्वयं राष्ट्र के अस्तित्व के सामने बड़ा प्रश्न चिन्ह लग गया है। राष्ट्र का सहअस्तित्व, सहकारी अस्तित्व, स्वतंत्र अस्तित्व कायम रहेगा या नहीं? इस संकट से निकलने का रास्ता राजनीति के पास नहीं है और न तो सरकार के पास हमारी किसी समस्या का समाधान है। नेगेटिव राज्य-शक्ति से बड़ा दुर्भाग्य देश के लिए दूसरा नहीं हो सकता।

भारत की राज्य-शक्ति ने नए जमाने के प्रभाव में कुछ प्रगतिशील कानून भले ही बनाए हों, और अच्छे काम भी किए हों— अंग्रेजी राज ने भी किए थे— किंतु समाज के विकास में वह कोई नई प्रेरणा या दिशा नहीं दे सकी है। बालिग मताधिकार, खेती में नए यंत्र, शिक्षा के प्रसार तथा नियोजित विकास के नारे के सम्मिलित प्रभाव से जीवन का क्षितिज बढ़ा, जनता की अपेक्षाएं भी बढ़ीं, किंतु जनता को आगे बढ़ने और अपने पुरुषार्थ से अपने गांव और राष्ट्र का नव-निर्माण करने का अवसर नहीं मिला। जनता को बढ़ने नहीं दिया गया। हताश पर हताश होती चली गई जनता। गांधीजी अपने समय में लोक-चित्त को राष्ट्रीयता के जिस धरातल पर ले गए थे, वहां से वह फिर वापस बहुत पीछे लौट गया। आज हमारा चित्त कबीलावाद के धरातल पर है। उसी धरातल पर हमारा चिंतन हो रहा है और वहीं से हमारी व्यवस्था चल रही है। भारत जैसे विविध, विशाल और विकासशील राष्ट्र को समस्याओं से जूझने के लिए जिस चिंतन और जिस प्रकार की चेष्टा की जरूरत है, वह आज कहां है? अर्थनीति और राजनीति के साथ-साथ शिक्षा नीति भी सामंतवादी संस्कारों और पूंजीवादी आकांक्षाओं को इस तरह बढ़ावा देने वाली है कि नया दिमाग बनने नहीं पाता। राजनेताओं का समाजवाद राज्यवादी पूंजीवाद के पेट में समा गया है।

अंग्रेजी राज के छोड़े हुए दमन और शोषण के ढांचे से चिपकी रहने के कारण स्वतंत्र भारत की राज्य-शक्ति परिवर्तन का माध्यम नहीं बन सकी। उल्टे



उसने परिवर्तन की शक्तियों और चेष्टाओं को कुंठित किया और संगठित किया अपने चारों ओर परिवर्तन विरोधी शक्तियों और प्रवृत्तियों को। इसका परिणाम यह हुआ कि बदलाव के रास्ते बंद देखकर बदलाव चाहने वाली प्रवृत्तियां बदले की ओर मुड़ गईं। बदलाव सृजन करता है, लोक-चित्त को ऊपर उठाता है, जबकि बदला चित्त को क्षोभों और उन्मादों से भर देता है, जिनसे हिंसा का जन्म होता है। नक्सलवाद, या जाति और वर्ग के संघर्ष में यही हिंसा प्रकट हो रही है। यह तत्व संप्रदायवाद और क्षेत्रवाद में भी भरपूर मौजूद है।

हमारे समाज की यह एक बुनियादी कमजोरी तो है कि द्विज संस्कृति ने 'ऊंच' द्वारा 'नीच' के दमन को सामाजिक-धार्मिक मान्यता दी है। उसने जाति और जनेऊ का अहंकार पैदा किया है। उसकी यह मान्यता रही है कि जो ऊंच है वही प्रतिष्ठा स्वामित्व, संपत्ति और शिक्षा का अधिकारी है। अलगाव और दुराव की पराकाष्ठा है यह!

नए जमाने के प्रभाव में 'बैकवर्ड' और हरिजन युवकों को जन्म पर आधारित यह दुराव बहुत खला है, जो उचित है। उनमें विद्रोह-भावना बढ़ती जा रही है। हाल के जमाने में कुछ जमीन और कमाई हाथ में आने के कारण पिछड़ी मानी गई जातियों में आत्म-विश्वास बढ़ा है। वोट ने संख्या की शक्ति का भान कराया है और उनमें सत्ता की भूख बढ़ाई है। भले ही इन चीजों ने उनके बीच एक नए प्रतिद्वंद्वी अभिजात्य वर्ग को जनम दिया हो, किंतु साथ-साथ बदलाव की चाह करने वाली चेतना भी पैदा हुई है, जो बदलाव न देखकर तेजी के साथ बदला लेने की ओर मुड़ रही है। तो प्रश्न यह है कि क्या हमारी राज्य-शक्ति और उसके शासक वर्ग के पास इन समस्याओं का कोई समाधान है? यदि उसके पास नहीं है तो फिर किसके पास है?

सत्ता का स्वयं अधिकार प्राप्त लोगों द्वारा खुला और व्यापक दुरुपयोग, राष्ट्रीय जीवन में सैनिक शक्ति का बढ़ता प्रयोग, वर्ग-संघर्ष का हिंसा-मूलक दर्शन, संगठित असत्य का सतत् प्रचार, उत्तेजक मनोरंजन, मानवीय मूल्यों का हास आदि इस बात के संकेत हैं कि संकट संपूर्ण राज्य-व्यवस्था, समाज रचना

**सरकारी दिमाग, चाहे वह असर का हो, चाहे योजना बनाने वाले विशिष्ट या नेता का, वह गांव को कुछ 'घरों के समूह' के सिवाय दूसरा कुछ नहीं मानता, जबकि सचाई यह है कि हमारे गांव सदियों से एक 'इकाई' के रूप में विकसित हुए हैं जिनकी अर्थनीति परस्परवलंबी रही है तथा जीवन पर स्पर्श पूरक रहा है। इसीलिए उनका जीवन राजा के कानून से नहीं, पंचपरमेश्वर के निर्णय से चलता था।**

और जीवन-पद्धति में है। शायद इसीलिए लोगों का दिमाग पीछे की ओर मुड़कर 'नकली भगवानों' और कल्पना के सुनहले अतीत की ओर देखने लगा है। यह अपने को समस्याओं से अलग कर वर्तमान के आगे देखता ही नहीं है।

सारे प्रश्नों का प्रश्न यह है कि इस संकट का मुकाबला कैसे करें? अंतर्राष्ट्रीय हिंसा मनुष्य जाति को विश्व-संहार की ओर ले जा रही है। यह राष्ट्रीय हिंसा राष्ट्र को कहां ले जाएगी? क्या अराजकता, विघटन या गृहयुद्ध की ओर नहीं? इस चिंता से पीड़ित व्यक्ति क्या करें?

अमैया की हिंसा मात्र एक प्रतीक है, उस हिंसा का, जो उससे बहुत, बहुत बड़ी है। प्याज की तरह अमैया की हिंसा को

**सत्ता का स्वयं अधिकार प्राप्त लोगों द्वारा खुला और व्यापक दुरुपयोग, राष्ट्रीय जीवन में सैनिक शक्ति का बढ़ता प्रयोग, वर्ग-संघर्ष का हिंसा-मूलक दर्शन, संगठित असत्य का सतत् प्रचार, उत्तेजक मनोरंजन, मानवीय मूल्यों का हास आदि इस बात के संकेत हैं कि संकट संपूर्ण राज्य-व्यवस्था, समाज रचना और जीवन-पद्धति में है। शायद इसीलिए लोगों का दिमाग पीछे की ओर मुड़कर 'नकली भगवानों' और कल्पना के सुनहले अतीत की ओर देखने लगा है।**

छीलें तो परत के बाद दूसरी परत निकलती जाएगी और उसके तीखेपन से आंखों में आंसू बहने लगेंगे। प्रतीक प्रश्न का उत्तर नहीं सुझा सकता। खोज की दिशा और चिंतन की भूमिका का संकेत दे सकता है। सोचने वालों में हिंसा के कारणों के विश्लेषण में मतभेद हो सकते हैं, लेकिन अमैया का यह संकेत तो स्पष्ट है कि समाज की हिंसा का उत्तर सरकार की हिंसा के पास नहीं रह गया है। तो फिर क्या किसी दूसरी हिंसा के पास होगा? क्या हमारे देश की भूमिका में अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में क्रांतिकारी कही जाने वाली हिंसा के पास हो सकता है? ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता।

यदि एक ही प्रश्न है 'संपूर्ण हिंसा' (अपने विविध रूपों में) तो उसका एक ही उत्तर है समग्र अहिंसा— जीवन में, समाज में, क्रांति में और क्रमशः वैदेशिक संबंधों में। नोआखाली की हिंसा का उत्तर गांधीजी ने

'रचनात्मक अहिंसा' में देखा था। लेकिन इस रचनात्मक अहिंसा की ओर पहल कौन करेगा? हिंसा के बीच में अहिंसा के प्रयोग में अगुवाई कौन करेगा? कहां हैं सच्चे गांधी-स्पर्श के लोग? जाहिर है कि इस ओर कदम राज्य-शक्ति की ओर से या राजनैतिक दलों की ओर से, जो राज्य की शक्ति को ही सर्वोपरि मानते हैं, नहीं उठ सकता। अहिंसा के अभिक्रम के लिए राज्य-शक्ति के दायरे के बाहर जाना पड़ेगा। पहले कदम के रूप में यह अभिक्रम चेतन व्यक्तियों की अटूट

निष्ठा और सही चिंतन से ही जग सकता है। किसी बने बनाए संगठन की घोषणा या संकल्प से नहीं। जनता को परिस्थिति का सही भान कराना प्रतिभाशील व्यक्तियों का काम है।

लेकिन जो अभिक्रम व्यक्तियों तक सीमित रह जाएगा, वह कितनी दूर तक जाएगा? जहां समाज और राज्य के संपूर्ण संदर्भ को बदलना हो, वहां कुछ निश्चित बिंदुओं पर प्रबल लोकमत का प्रकट होना जरूरी है। शक्तिशाली लोकमत अपने में एक शक्ति है। एक बार शक्ति फूटती है तो रास्ता सूझने लगता है। बढ़ती लोक शक्ति का लोक आंदोलन के रूप में प्रकट होना अनिवार्य है।

ऐसी शक्ति परस्पर-विरोधी राजनैतिक दलों के या जाति गत, वर्ग-गत मांगों के लिए उठे आंदोलन से नहीं बन सकती; और न तो सरकार के विकास कार्यक्रमों, संस्थाओं की सेवाओं, अथवा छिटपुट वर्ग शत्रुओं की हत्याओं से ही बनेगी। इसके लिए लोक-मानस को एक शक्तिशाली आध्यात्मिक-नैतिक स्पर्श की जरूरत है जो चेतना को संकुचित स्वार्थों, छोटे घरोंदों और सीमित निष्ठाओं से ऊपर उठाने की सामर्थ्य रखता हो, और जो समस्याओं को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखता हो।

जन-जीवन के बुनियादी प्रश्नों को लेकर लोकमत बनाना और उसे प्रकट करना अपने वश की बात है। किंतु किसी क्रांतिकारी लहर के लिए परिस्थिति की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। क्रांति का अंकुर परिस्थिति में से फूटता है। परिस्थिति की सटीक परख सफल नेतृत्व का गुण है। जलियांवाला बाग के समय गांधीजी या 1953 में विनोबाजी ने या 1974 में जे.पी. ने अपनी ओर से आंदोलन पैदा नहीं किया था; उन्होंने परिस्थिति द्वारा प्रस्तुत अवसर को नई दिशा और नया आयाम दे दिया था।

विज्ञान और लोकतंत्र की आकांक्षा के इस युग में अन्य चीजों की तरह क्रांति में भी प्लेनिंग का बहुत बड़ा भाग हो गया है, इसीलिए यह संभव हुआ है कि नागरिक भी क्रांति में अपना पूरा रोल अदा कर सके। अहिंसक क्रांति के विकास में गांधीजी के बाद नए संदर्भ में विनोबाजी ने भूदान-ग्रामदान द्वारा ग्रामस्वराज्य के विचार की शक्ति भरी और उसके बाद जे.पी. ने लोकतंत्र की रक्षा

**क्रांति का अंकुर परिस्थिति में से फूटता है। परिस्थिति की सटीक परख सफल नेतृत्व का गुण है। जलियांवाला बाग के समय गांधीजी या 1953 में विनोबाजी ने या 1974 में जे.पी. ने अपनी ओर से आंदोलन पैदा नहीं किया था; उन्होंने परिस्थिति द्वारा प्रस्तुत अवसर को नई दिशा और नया आयाम दे दिया था।**

करते हुए प्रतिकार की पद्धति बताई और क्रांति के कदम सुझाए। गांधी, विनोबा और जे.पी. की देन के आधार पर अहिंसक क्रांति की रूपरेखा तैयार कर लेना कठिन नहीं रह गया है। कम-से-कम दिशा के बारे में भ्रम या संशय की गुंजाइश बहुत कम हो गई है।

अहिंसक क्रांति के कुछ बिंदु स्पष्ट हैं। आज का लोकतंत्र चाहे जितना अपूर्ण हो, लेकिन नागरिक अधिकारों के रूप में जो देन हमें सदियों के प्रयत्न से मिली है, उसे 'यह लोकतंत्र निकम्मा है' कहकर गंवाया नहीं जा सकता। उसके बिना अहिंसक क्रांति नागरिक के हाथ से निकलकर षडयंत्रकारी के हाथ में चली जाएगी और तब तानाशाही— राइट की या लेफ्ट की— के सिवाय दूसरा कोई रास्ता नहीं रह जाएगा।

**अहिंसक क्रांति के कुछ बिंदु स्पष्ट हैं। आज का लोकतंत्र चाहे जितना अपूर्ण हो, लेकिन नागरिक अधिकारों के रूप में जो देन हमें सदियों के प्रयत्न से मिली है, उसे 'यह लोकतंत्र निकम्मा है' कहकर गंवाया नहीं जा सकता। उसके बिना अहिंसक क्रांति नागरिक के हाथ से निकलकर षडयंत्रकारी के हाथ में चली जाएगी और तब तानाशाही राइट की या लेफ्ट की के सिवाय दूसरा कोई रास्ता नहीं रह जाएगा।**

भारतीय क्रांति की तत्काल दो मांगें हैं। एक है देश के विभिन्न धार्मिक सांस्कृतिक और भाषायी समुदायों का सम्मानपूर्ण सह-अस्तित्व। सह-अस्तित्व इतना ही नहीं है कि सरकार के कानून, सेना और अफसर हर जगह मौजूद हों। बल्कि सहअस्तित्व में स्वेच्छापूर्ण सहकार और समन्वय आवश्यक है। इसका विकास सरकार के स्तर से कहीं अधिक नागरिक के स्तर पर हो सकता है। भाषाओं, क्षेत्रों आदि के सम्मानपूर्ण सह-अस्तित्व की राष्ट्रीय योजना बनाने में देर नहीं होनी चाहिए। यह नागरिक अभिक्रम का प्रश्न है।

किसान आंदोलन दूसरा अवसर और चेतावनी दे रहा है। प्रश्न कुछ मांगों का ही नहीं है। कौन गांधी वाला इनकार करेगा कि 'इंडिया' द्वारा 'भारत' का खून चूसा जा रहा है। गांधी से ज्यादा इस बात को किसने कहा है? हमारे पांच लाख गांव आज भी शहरों की

केंद्रित अर्थनीति के, उपनिवेशवादी शोषण के शिकार बने हुए हैं। दलवादी राजनीति, सामंतवादी शिक्षा, और भोगवादी जीवन-नीति ने इस उपनिवेशवाद को नई राष्ट्रनीति बना दिया है।

इसलिए गांव की इस उपनिवेशवाद से मुक्ति अहिंसक क्रांति का केंद्र बिंदु हो गई है। यदि मुक्ति के प्रकार को तीव्र संघर्ष का विषय बनाने दिया गया तो

परिणाम क्या होगा, कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस अहिंसक क्रांति की अगुवायी वे प्रगतिशील किसान कर सकते हैं जो यह समझ गए हैं, या समझ जाएं कि उनका प्रश्न किसान, मजदूर और कारीगर को मिलाकर है, केवल उनका नहीं, क्योंकि गांव वस्तुतः एक 'खेतिहर परिवार' है, जिसके सदस्य अलग-अलग नहीं खड़े हो सकते।

तीसरी चेतावनी और अवसर खुद अमैया है। यदि संपूर्ण हिंसा पर विजय पाना हो, और देश को जाति युद्ध की भयंकरता से बचना हो तो हिंसा-मुक्ति और मैत्री के समग्र प्रयोग करने होंगे। इन प्रयोगों से रचनात्मक अहिंसा का स्वरूप स्थिर होगा और फिर उसमें समस्याओं के अहिंसक समाधान निकल सकेंगे। इसी के अंतर्गत अनीति और अन्याय के अहिंसक प्रतिकार हो सकेंगे।

परस्परावलंबी अर्थनीति और सामाजिक अनुशासन द्वारा प्रगट होने वाली ग्राम-शक्ति ही राष्ट्रीय एकता की मजबूत नींव बन सकती है। तभी लोग समझेंगे कि अस्तित्व का रास्ता वास्तव में सहअस्तित्व ही है। उसी अहिंसा में जीवन है, मुक्ति है और हिंसा का विनाश।

यदि एक ही प्रश्न है हिंसा तो उसका उत्तर भी बस एक ही है— अहिंसा। उस उत्तर को धरती पर उतारना वह क्रांति है जो 21 वीं सदी के लिए भारत को तैयार करेगी और शायद दुनिया को भी कुछ दे सकेगी।

सर्वोदय जगत के अनन्य विचारक  
आचार्य राममूर्ति ने जीवन में, समाज में भी उत्तम विचार  
बोने का काम आजीवन किया। अंतिम दिनों तक वे बिहार में  
खादीग्राम (मुंगेर) को केंद्र बनाकर महिला शांति सेना के गठन और मार्गदर्शन  
में सक्रिय बने रहे। यह लेख सन् 1981 में दिए गए एक भाषण का संपादित रूप है।



# पोथी पढ़ि पढ़ि

## बेटे ने दूसरा ही रास्ता चुना

सुशीला नैय्यर

पिता गुजर गए थे। मां और चाचाजी ने यह तय कर लिया था कि प्यारेलाल नैय्यर को वे इंडियन सिविल सर्विस में भेजकर एक बड़ा अफसर बनाएंगे। पर प्यारेलालजी ने अंग्रेज सरकार की सेवा के बदले समाज की सेवा का रास्ता चुना। इस काम के लिए जिस दिन वे गांधीजी के पास गए, उस दिन मां अपने बेटे को भारी मन से बिदा कर पूरी रात रोती रहीं। छोटी बहन सुशीला, जो बाद में डाक्टर बनीं और फिर गांधीजी की देखभाल भी करती रहीं, बता रही हैं अपने बड़े भाई श्री प्यारेलाल नैय्यर के बारे में कुछ आत्मीय किस्से।

**कहां** से आते हैं हम, कहां जाते हैं, कौन कह सकता है? जो गए हैं वे आकर कुछ बताते नहीं, और हम अपनी कल्पना के स्वप्न खड़े करते रहते हैं, जब तक हमारी बारी जाने की नहीं आती।

भाईजी यानी प्यारेलालजी मेरे लिए पिता तुल्य थे। वे परिवार में सबसे बड़े और मैं सबसे छोटी थी। मेरे लिए वे गुरु रूप भी थे। जीवन के मूल्य हमारी मां ने तो हम सबको दिए ही, मगर भाईजी ने मुझे अनेक छोटी-छोटी व्यावहारिक बातें सिखाईं। बापू के पास मैं भाईजी के कारण ही पहुंची। मुझे उस दिन का स्मरण हो गया जब 1920 या 1921 की दीवाली के दिन भाईजी फिरोजपुर आए थे। मैं माताजी के साथ अपने मामा के यहां कॉलेज छोड़कर गई थी। भाईजी बहुत मोटी खदर के कपड़े पहने हुए थे। खदर की पगड़ी भी। माताजी से बिदा

लेने के लिए आए थे। वे अपनी पढ़ाई अधूरी छोड़कर बापूजी के पास जा रहे थे। मेरे चाचाजी और माताजी ने सोच रखा था कि वे एम.ए. की परीक्षा के बाद इंडियन सिविल सर्विस में जाएंगे। मेरे पिताजी के काम से उनके अंग्रेज अफसर इतने प्रसन्न थे कि वे हर तरह से उनके बेटे की मदद करना चाहते थे मगर बेटे ने दूसरा ही रास्ता चुन लिया था। माताजी अपने बेटे को विदा करके रात भर रोती रहीं। मैं माताजी से चिपक कर सोती थी। माताजी रोती थीं, इसलिए मैं भी रोती थी।

पिताजी की मृत्यु शायद 58 वर्ष की आयु में स्ट्रोक से हुए थी। उस समय भाईजी लाहौर में हाईस्कूल में पढ़ते थे। उनकी उम्र 15 बरस थी। पिताजी को पहली शादी से कोई संतान नहीं थी। करीब चालीस वर्ष की आयु में अपने माता-पिता के आग्रह के वश उन्होंने दूसरी शादी मेरी माताजी से की थी। तब माताजी 13 वर्ष की थीं। भाईजी के जनम के समय माताजी बहुत अनजान थीं। हमारी चाची बहुत समझदार, पढ़-लिखी और कट्टर आर्यसमाजी थीं। माताजी सिख परिवार की बेटा थीं। गुरु अमरदास की वंशज थीं। शादी से पहले गुरुमुखी ही जानती थीं। फिर चाचीजी से उर्दू, हिंदी सीखी थी। थोड़ी-सी फारसी भी उन्होंने पढ़ी थी। गुलिस्तान बोस्तान पढ़ा था। कुछ शब्द अंग्रेजी के भी जानती थीं। चाचीजी हमारे परिवार में स्त्री शिक्षा लाई और आर्य समाज का संदेश भी। वे स्वयं पक्की शाकाहारी थीं और उनकी प्रेरणा से हमारा परिवार शाकाहारी बन गया। घर में संध्या-हवन होने लगा। मां जपुजी और सुखमनी साहेब का पाठ करतीं। पिताजी सनातनधर्मी थे। सो रामायण भी पढ़ी जाती थी। हमारे दादाजी और पिताजी पक्के सनातन धर्मी थे, मगर घर में जैन साधु और साध्वियों का भी अक्सर आगमन होता रहता था।

पिताजी की मृत्यु के समय माताजी की उम्र तीस-एक साल ही होगी। वे बहुत सुंदर थीं। पिताजी की मृत्यु के समय मैं अभी मां का दूध ही पीती थी। मुझे पिताजी का स्मरण नहीं है। हवन के बाद माताजी समाधि लगाकर भजन

**माताजी सिख परिवार की बेटा थीं। गुरु अमरदास की वंशज थीं। शादी से पहले गुरुमुखी ही जानती थीं। फिर चाचीजी से उर्दू, हिंदी सीखी थी। थोड़ी-सी फारसी भी उन्होंने पढ़ी थी। गुलिस्तान बोस्तान पढ़ा था। कुछ शब्द अंग्रेजी के भी जानती थीं। चाचीजी हमारे परिवार में स्त्री शिक्षा लाई और आर्य समाज का संदेश भी। वे स्वयं पक्की शाकाहारी थीं और उनकी प्रेरणा से हमारा परिवार शाकाहारी बन गया।**

किया करती थीं। तब मैं टकटकी लगाकर उनके चेहरे को देखा करती थी। अग्नि के ताप से उनका गोरा और लाल रंग, तीखे नक्श और शांत सौम्य मुद्रा बहुत ही सुंदर दिखती थी। हमारे घर में अक्सर धार्मिक प्रवचन, उपनिषद, रामायण, गुरुग्रंथ साहब का पाठ करने वाले लोग आते रहते थे।

पिताजी की मृत्यु के बाद चाचाजी भाईजी को अपने पास ले गए। चाचीजी ने उनकी लाड़ से बिगड़ी आदतों को सुधारने का प्रयास किया। वे समय पर खाना खाने नहीं आते थे। चाची उनका खाना उठाकर जाली की अलमारी में रख देती

**प्यारेलाल गुप्तजी ने मुझे मनीआर्डर भेजा। हमें घर में सिखाया गया था कि किसी से कभी कुछ लेना नहीं चाहिए। सो मैंने उन्हें वह वापिस लौटा दिया। तब उन्होंने मुझे लिखा कि ये रुपए तुम्हारे भाई प्यारेलाल ने दिए हैं। मैंने बस मनीआर्डर किया है। मैंने फिर रुपए रख लिए। इस तरह से मुझे वे 50 रुपए हर महीने मेरी पढ़ाई के लिए भेजते रहे। मुझे बाद में भाईजी से पता चला कि यह पैसा वे अपने पास से ही भेजते थे।**

थीं। खेलने के बाद जब उन्हें भूख लगती तो वे चाची के पास आते, कहते, “चाची, भूख लगी है।” तब वे कहतीं, “देख मैं थक गई हूँ, आराम कर रही हूँ। जाली में खाना निकालकर खा ले।” और वे खा लेते।

जब भाईजी को लाहौर डी.ए.वी. स्कूल में दाखिले के लिए मेरे पिताजी लेकर गए, तो प्रिंसिपल के पास एक फारसी की कविता में अपने मन के भाव उन्होंने व्यक्त किए, जिसका अर्थ था, “मैं अपनी सबसे कीमती चीज, अपने दिल का टुकड़ा, आपको सौंप कर जा रहा हूँ।” यह बात मुझे कई बार भाईजी के परम मित्र श्री प्यारेलाल गुप्त जी ने सुनाई होगी।

श्री प्यारेलाल गुप्त रेवाड़ी के रहने वाले थे। वे भाईजी से दो चार साल बड़े थे। मगर दोनों में गहरी दोस्ती हो गई जो अंत तक कायम रही। प्यारेलाल गुप्त भाईजी को छोटे भाई के समान स्कूल से ही संभालते रहे। जब 1932 में दूसरी गोलमेज परिषद से लौटने के

बाद मेरी माताजी और भाईजी दोनों जेल चले गए, तब मैं बोर्डिंग हाउस में पढ़ती थी। प्यारेलाल गुप्त जी ने मुझे मनीआर्डर भेजा। हमें घर में सिखाया गया था कि किसी से कभी कुछ लेना नहीं चाहिए। सो मैंने उन्हें वह वापिस लौटा दिया। तब उन्होंने मुझे लिखा कि ये रुपए तुम्हारे भाई प्यारेलाल ने दिए हैं। मैंने बस मनीआर्डर किया है। मैंने फिर रुपए रख लिए। इस तरह से मुझे वे 50 रुपए हर महीने मेरी पढ़ाई के लिए भेजते रहे। मुझे बाद में भाईजी से पता चला कि यह पैसा वे अपने पास से ही भेजते थे। उन्होंने मुझे हमेशा छोटी बहन समझा और



भाईजी का बोझ हर तरह से हल्का करने का उन्होंने भरसक प्रयास किया। मगर अपने लिए कभी कुछ नहीं मांगा।

नंदलाल चाचाजी ने जो प्यार मेरे पिताजी से पाया था, वह सब अपने भतीजे भाईजी पर उंडेला। जब भाईजी ने घर छोड़ दिया तो चाचाजी को बहुत सदमा पहुंचा। उनकी मानो कमर टूट गई। माताजी तो रो लेती थीं, रात को अक्सर बिस्तर से उठकर चक्कर काटती रहती थीं। मेरा बेटा कहां सोया होगा? उसके पास बिस्तर भी होगा या नहीं? खाना खाते समय उन्हें बेटे की याद आ जाती थी और वहीं खाना छोड़ देती थीं। सोचतीं, मेरे बेटे ने खाना खाया होगा या नहीं? मगर चाचाजी कुछ भी कहे बिना भीतर ही भीतर अपने दुख में जलते रहते थे। धीरे-धीरे उनके स्वास्थ्य पर उसका असर होने लगा। आखिर में पता चला कि उन्हें क्षय रोग था।

भाईजी के गांधीजी के पास जाने के कुछ समय बाद एक दिन मैं अपने गांव कुंजाह में अपने घर के सामने खेल रही थी। मैंने देखा कि निक्को बुआ और हमारी चचेरी बहन पार्वतीजी और दो-चार भाई-बहन कहीं जा रहे थे। ये सब महात्मा गांधी का दर्शन करने के लिए गुजरात शहर जा रहे थे। गुजरात वहां से चार मील दूर था। मैंने कहा मैं भी चलूंगी। निक्को बुआ बोलीं तुझे गोद में कौन उठाएगा? सवारी मिलेगी या नहीं, हमें पता नहीं। मगर मैं कहां रुकने वाली थी। मैं भी चलूंगी, चलूंगी चिल्लाते हुए उनके पीछे चलती गई। मगर कहां इतना चल सकती थी। थोड़े समय बाद एक भाई ने मुझे अपने कंधे पर उठा लिया। गुजरात पहुंचने से पहले ही मैं उनके कंधे पर सो गई। गुजरात में मुझे जगाया गया। किसी ने कहा कि गांधीजी का दर्शन कर लो। मगर मुझे कुछ पता नहीं चला कि कौन से महात्मा गांधी थे। मेरे लिए महात्मा गांधी का अर्थ था मेरे भाईजी। वे मुझे वहां दिखे नहीं। हम लोग वापस घर चले आए। शायद वापसी में सवारी मिल गई थी।

कुछ समय बाद मेरे मंझले भाई मोहनलाल, जो चाचाजी के पास पढ़ने के लिए रोहतक गए हुए थे, वहां बीमार पड़ गए। मेरी माताजी मुझे साथ लेकर वहां

**नंदलाल चाचाजी ने जो प्यार मेरे पिताजी से पाया था, वह सब अपने भतीजे भाईजी पर उंडेला। जब भाईजी ने घर छोड़ दिया तो चाचाजी को बहुत सदमा पहुंचा। उनकी कमर मानो टूट गई। माताजी तो रो लेती थीं, रात को अक्सर बिस्तर से उठकर चक्कर काटती रहती थीं। मगर चाचाजी कुछ भी कहे बिना भीतर ही भीतर अपने दुख में जलते रहते थे। धीरे-धीरे उनके स्वास्थ्य पर उसका असर होने लगा।**

गई। एक दिन सुना कि महात्मा गांधी रोहतक आ रहे हैं और हमारे घर के नजदीक ही औरतों की एक सभा में भाषण देंगे। माताजी सभा में जाना चाहती थीं। चाचाजी को घर की औरतों का सभा में जाना पसंद नहीं था। हमारे घर में उस जमाने में पर्दा होता था। माताजी ने चाचाजी को बिना बताए सभा में जाना तय कर लिया। चाचाजी कचहरी गए हुए थे। माताजी ने लंहगा पहना, बड़ा-सा चादर ओढ़ा और मेरी उंगली पकड़कर चल पड़ीं। नजदीक ही एक बड़े से अहाते में औरतें खचाखच भरी थीं। दूसरे किनारे पर मंच था। उस पर बापूजी थे। औरतें और बच्चे इतना शोर कर रहे थे कि गांधीजी ने अपना भाषण बंद कर दिया और फंड इकट्ठा करने के लिए हाथ फैला दिया। कई औरतें जेवर उतारकर देने लगीं। माताजी भीड़ को चीरती हुई मुझे खींचकर मंच तक पहुंच गईं और बापूजी को प्रणाम करके बोली, “मैं प्यारेलाल की माता हूं। मुझे आपसे मिलना है।”

बापूजी ने करीब एक सप्ताह बाद लाहौर में चौधरी रामभज दत्त की कोठी पर माताजी को मिलने का समय दिया। मेरे मामा उन दिनों लाहौर में रहते थे। माताजी मोहनलाल तथा मुझे साथ में लेकर उनके घर लाहौर पहुंच गईं। मुलाकात के दिन माताजी दोनों बच्चों को साथ लेकर चौधरी रामभज दत्त की कोठी पर काफी समय पहले ही पहुंच गईं। मुझे भाईजी अपने कमरे में ले गए। वहां कई और लोग भी थे और ढेर-सी डाक पड़ी हुई थी। मुझे भाईजी ने तस्वीरों की एक किताब दे दी। माताजी कस्तूरबा से बातें करती रहीं। फिर वे बापूजी को मिलने चली गईं। शाम हो रही थी। मैं शायद इस बीच सो गई थी।

वापस घर लौटने पर माताजी ने हमें बताया कि कस्तूरबा से बातें करके उन्हें बहुत सात्वना मिली थी। एक तो उन्हें शांति हुई होगी कि उनका बेटा बापू के पास मां के स्नेह से सर्वथा वंचित नहीं था। कई बार माताजी ने हमसे कहा, “गई तो मैं थी महात्माजी से अपना बेटा वापस मांगने। सोचकर गई थी कि उनसे कहूंगी कि आपके पास तो मेरे प्यारे के जैसे अनेक हैं, मेरे पास तो एक ही यह बड़ा बेटा है जो इस विधवा का सहारा है। मेरे यतीम बच्चों को देखने वाला है। मगर उनके सामने जाकर मैं सब बातें भूल गई।”

1930 में गर्मी की छुट्टियों में भाईजी मुझे पहली बार साबरमती आश्रम अपने साथ ले गए। रास्ते भर ट्रेन में मुझे उन्होंने प्रार्थना के श्लोक सिखाए। आश्रम के बारे में बताया। जाते समय तीन जोड़ी खादी के कपड़े माताजी ने मुझे बनवा दिए थे। मगर मैं खादी पहनने का व्रत नहीं लूंगी, यह वचन भी मुझसे ले लिया था! माताजी ने मेरे लिए बहुत से नए कपड़े बनवाए थे क्योंकि अब मैं कॉलेज में जाने वाली थी। वे नहीं चाहती थीं कि लौट कर मैं उन्हें पहनने से इंकार करूं।

मगर हुआ वही। आश्रम का मेरे मन पर गहरा असर हुआ। वहां मैं कपड़े धोना भी सीख गई थी। सो लौट कर रोज अपने कपड़े धोकर पहन लेती थी और पढ़ने चली जाती थी। साल भर के बाद माताजी ने मुझे और खादी के कपड़े बनावा दिए। मैंने खादी पहनने का व्रत तो नहीं लिया मगर पहनी तब से खादी ही है।

मेरी गर्मी की छुट्टियां खत्म होने जा रही थीं। बापूजी को भोपाल होकर आगरा आना था। मुझे भी साथ ले आए। भाईजी मुझे आगरा से देहली पहुंचा गए और वहां से माताजी और मैं लाहौर आ गए। अगले वर्ष फिर मैं छुट्टियों में साबरमती गई। बापूजी आश्रम में नहीं थे। नमक सत्याग्रह के सिलसिले में वे शायद जेल में थे। मैं आश्रम के छात्रावास में प्रेमा बहन कंटक के कड़े नियम में रही। इतने में बापूजी आ गए और गुजरात विद्यापीठ ठहरे। नमक सत्याग्रह पर जाते समय उन्होंने कहा था कि अब वे स्वराज्य लेकर ही आश्रम में लौटेंगे। मैं चर्खा कातना, रूई पींजना, पूनी बनाना सीख गई। पिंजाई मुझे ठीक तरह से नहीं आई। शाम को बापूजी आश्रम तक घूमने आते थे। भाईजी उनके साथ होते थे। पहले दिन मैं उनके साथ वापस गई।

विद्यापीठ में लड़कियां रात को नहीं ठहर सकती थीं। सो मैं बापू के घूमने निकलने से पहले ही विद्यापीठ पहुंच जाती थी और उनके साथ चलकर आश्रम तक आ जाती थी। वापसी में उनके साथ चलकर नहीं जाती थी। भाईजी मुझसे बहुत कम बात करते थे। मुझे यह चुभता था। वे मुझे बच्चा ही समझते थे। पर अब मैं अपने को बच्चा नहीं समझती थी। उसी वर्ष शायद बापूजी दूसरी गोलमेज परिषद के लिए बंबई से लंदन के लिए रवाना होने वाले थे। मुझे भी भाईजी बंबई तक साथ ले गए। वहां रात भर वे अपना और बापूजी का सामान ठीक करते रहे। मैं भी उनके साथ रात भर जागी। यह मेरा रात भर जगने का पहला अनुभव था। दूसरे दिन उनको रवाना करने जहाज तक गई। लौटते समय मुझे प्यारेलालजी गुप्त अपने घर ले गए। फिर मुझे उन्होंने देहली पहुंचा दिया।

माताजी ने तय किया कि मैं बंबई भाईजी और बापू को रवाना करने गई थी तो वे और मोहनभाई उनके लौटने पर उन्हें बंबई लिवाने जाएंगे। वे बंबई

**एक दिन सुना कि महात्मा गांधी रोहतक आ रहे हैं और हमारे घर के नजदीक ही औरतों की एक सभा में भाषण देंगे। माताजी सभा में जाना चाहती थीं। चाचाजी को घर की औरतों का सभा में जाना पसंद नहीं था। हमारे घर में उस जमाने में पर्दा होता था। माताजी ने चाचाजी को बिना बताए सभा में जाना तय कर लिया।**

गए। बापूजी मणिभवन में ठहरे थे। बापूजी के लौटने के दो-चार दिन बाद माताजी घर लौटने से पहले बापूजी को प्रणाम करने गईं। मगर बापूजी ने कहा, “अब वापस घर क्या जाना, अब तो हमें जेल भेजकर स्वयं भी जेल जाओ।” माताजी ने इसे बापूजी का आदेश मानकर जेल जाना तय कर लिया। वे कभी घर से बाहर नहीं गई थीं। सत्याग्रह चलाने वाले लोग उन्हें जेल भेजने से घबराते थे। मगर माताजी ने किसी की नहीं मानी और आखिर नासिक और यरवदा में छह महीना या उससे अधिक समय की जेल यात्रा की। उनसे जेल का खाना खाया नहीं जाता था। 40 पौंड वजन उतर गया। फिर उन्हें दूध दिया गया तब कुछ तबीयत संभली। मैं उस समय बोर्डिंग हाउस में पढ़ती थी।

माताजी के जेल से छूटने के दिन मैं और मोहनभाई दोनों उनको लेने के लिए पूना पहुंचने के लिए नासिक गए। वहां से त्रिवेदी साहब (डा. मनुभाई

**भाई से जेल वालों ने झगड़ा निपटाने में मदद मांगी। भाई ने कहा मैं स्वयं जब तक पत्थर तोड़कर देख न लूं कि कितना तोड़ा जा सकता है, मैं कैसे फैसला करूं कि कैदी पूरा काम कर रहे हैं या नहीं? सो एक हफ्ता उन्होंने आठ घंटे रोज पत्थर तोड़े थे। अब उनकी तबीयत ठीक थी। मगर कमजोरी थी, वजन बहुत कम हो गया था।**

त्रिवेदी के पिताजी) हमें पूना ले गए। हम माताजी के छूटने के बाद पहुंच सके। इससे माताजी को और हमें निराशा हुई। भाईजी भी जेल में थे। माताजी के साथ हम यरवदा में भाईजी से मिलने गए। भाईजी जेल के कपड़े पहने थे। बहुत ही दुबले हो गए थे। जेलर अंग्रेज था। उसने कहा गुजराती या अंग्रेजी में बातचीत कर सकते हो। पंजाबी में नहीं। भाईजी ने कहा मेरी माताजी दोनों में से एक भी भाषा नहीं जानतीं; और फिर अपनी मां से मैं अपनी भाषा में ही बात कर सकता हूं। किसी और भाषा में बोलना हमारे लिए अस्वाभाविक होगा।

करीब दस मिनट हम लोग मौन बैठे रहे।

तब वह जेलर ढीला पड़ा और बोला कि अच्छा, आप महात्मा गांधी के आदमी हैं, मैं आपका

विश्वास करूंगा। आप राजनीति की बातें नहीं करना। भाईजी ने कहा कि मेरी मां और भाई-बहन यहां राजनीति की बातें करने के लिए नहीं आए हैं।

भाईजी ने हमें बताया कि वे इतना कमजोर इसलिए हो गए थे क्योंकि उन्हें खूनी पेचिश हो गई थी। उसमें वे यदि जेल का खाना खाते तो खत्म ही हो जाते। सो उन्होंने करीब हफ्ता भर कुछ नहीं खाया। फिर रोटी के एक-दो टुकड़े लेकर मुंह में इतना चबाते थे कि उसका पानी हो जाता था। फिर उसे निगलते थे। ऐसे

दो-चार टुकड़े ही खाते थे। इसी बीच कैदियों के साथ जेल वालों का झगड़ा हुआ। भाईजी से जेल वालों ने झगड़ा निपटाने में मदद मांगी। भाईजी ने कहा मैं स्वयं जब तक पत्थर तोड़कर देख न लूं कि कितना तोड़ा जा सकता है, मैं कैसे फैसला करूं कि कैदी पूरा काम कर रहे हैं या नहीं? सो एक हफ्ता उन्होंने आठ घंटे रोज पत्थर तोड़े थे। अब उनकी तबीयत ठीक थी। मगर कमजोरी थी, वजन बहुत कम हो गया था।

यह मेरा पहला अनुभव था जेल देखने का। यरवदा जेल की वे दीवारें, भाईजी का वह दुर्बल, जेल के कपड़ों वाला रूप, इन सबका मेरे मन पर गहरा असर हुआ। भाईजी अनेक बार स्वतंत्रता संग्राम में जेल गए, मगर मैं एक ही बार उन्हें जेल में मिलने गई और यही वह पहला और अंतिम अवसर था। कुछ समय के बाद भाईजी को यरवदा में बापूजी के साथ जेल में रख दिया गया था।

माताजी ने पूना से लौटकर देहली में फिर सत्याग्रह किया और गिरफ्तार हुईं। इस बार उन्हें लाहौर जेल में छह महीने रखा गया। उस समय श्रीमती सरोजनी नायडू और श्रीमती उमा नेहरू भी उसी जेल में थीं और माताजी से उन दोनों की अच्छी दोस्ती हो गई थी। भाईजी पर और मुझ पर उन दोनों ने हमेशा स्नेह बरसाया। श्रीमती सरोजनी नायडू तो भाईजी को अपने बेटे के समान ही मानती थीं।

राष्ट्रीय गांधी संग्रहालय, नई दिल्ली  
द्वारा हाल में ही प्रकाशित पुस्तक 'रिमेंबरिंग प्यारेलाल'  
में डा. सुशीला नैय्यर के 'पत्ता टूटा डाल से' नामक अध्याय का  
संपादित रूप। पुस्तक के संपादक हैं— श्री डी.सी. ओझा। मूल्य है 170 रुपए।



# टिप्पणियाँ

## कुष्ठ अभी गया नहीं

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने देश में फिर से कुष्ठ रोग के फैलने पर चिंता जताई है। संयुक्त राष्ट्र संघ की इस इकाई ने एक प्रेस विज्ञप्ति में बताया है कि भारत में इस बीमारी से प्रति वर्ष एक लाख बीस हजार व्यक्ति प्रभावित हो रहे हैं। इस तरह दुनिया भर के कुष्ठ रोगियों की संख्या में सबसे ज्यादा बढ़ोतरी भारत के कारण ही हो रही है।

गांधीजी से लेकर बाबा आमटे तक ने इस रोग को मिटाने के लिए खूब काम किया था।

विश्व स्वास्थ्य संगठन की इस घोषणा से हमारी स्वास्थ्य प्रणाली पर भी प्रश्न चिन्ह लगता है। आज से पांच बरस पहले भारत सरकार कुष्ठ रोग के संपूर्ण उन्मूलन की घोषणा कर चुकी थी।

विश्व स्वास्थ्य संगठन का कहना है कि कुष्ठ रोग के समाप्त होने की घोषणा के 5 साल बाद एक लाख बीस हजार नए मरीजों की आमद बहुत ही गंभीर बात है। अधिकांश नए मरीज कुछ विशिष्ट राज्यों से हैं। नए आंकड़ों के अनुसार देश के कुल 630 जिलों में से 209 जिलों में बड़ी संख्या में कुष्ठ रोगी मौजूद हैं।

स्वास्थ्य मंत्रालय इस परिस्थिति को समझना चाह रहा है। मंत्रालय ने पिछले दिनों प्रभावित 16 प्रदेशों के कुष्ठ रोग अधिकारियों को आमंत्रित कर इसके उन्मूलन की रणनीति पर विचार किया है। लेकिन उनका कहना है कि घबराने वाली स्थिति नहीं है। केंद्रीय कुष्ठ रोग विभाग के उप निदेशक जनरल एम.सी. अग्रवाल के अनुसार देश की वर्तमान जनसंख्या एक अरब बीस करोड़ है। यदि हम इससे तुलना कर देखें तो प्रति 10 हजार व्यक्तियों पर एक नया मामला सामने आया। यह किसी भी क्षेत्र को कुष्ठ रोग मुक्त घोषित करने का पर्याप्त आधार है। जिन स्थानों पर यह अधिक दर से मौजूद है, वहां पर अतिरिक्त ध्यान देने की जरूरत पर भी उन्होंने जोर दिया।

कुष्ठ रोग छत्तीसगढ़, बिहार और दादरा तथा नगर हवेली के कुछ देशज और गरीबी की मार झेल रहे हिस्सों में अधिक फैल रहा है। सन् 2006 में जब बकाया देश से यह रोग पूरी तरह समाप्त माना गया था, तब भी ये राज्य इससे मुक्त नहीं हो पाए थे। केंद्रीय कुष्ठ रोग डिवीजन के अनुसार इन्हीं प्रदेशों से देश में नए कुष्ठ रोगियों में से

22 प्रतिशत आते हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन के कुष्ठ रोग उन्मूलन के हितैषी राजदूत मोहेइ सासाकावा का कहना है कि पिछले दो वर्षों से कुष्ठ रोगियों की संख्या में कमी आने के बजाए वह यथावत बनी हुई है। विश्व व्यापार संगठन के भारत स्थित प्रतिनिधि नाता मेनाब्दे ने केंद्र और राज्य सरकारों के मध्य अंतर्राष्ट्रीय कुष्ठ रोग एजेंसी के सहयोग के माध्यम से इस बीमारी के संपूर्ण उन्मूलन के लिए आपसी साझेदारी पर जोर दिया है।

बीमारी के फिर से उभरने के लिए स्वास्थ्य विशेषज्ञों ने सरकार और अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों का इस समस्या से ध्यान बंटने को जिम्मेदार बताया है। सामाजिक संगठन बाम्बे कुष्ठ रोग परियोजना के विवेक पाई का कहना है कि सन् 2006 के बाद कुष्ठ रोग उन्मूलन हेतु सरकारी नीतियों में आत्मसंतुष्टि का भाव घर कर गया। उनका कहना है कि वर्ष 2006 के बाद सरकार ने नए कुष्ठ रोगियों की सक्रिय खोज का काम ही रोक दिया था। अब नए मामले केवल स्वैच्छिक प्रयासों से ही सामने आ रहे हैं। कुष्ठ रोग को सामाजिक कलंक भी माना जाता है। इसलिए इस रोग का रोगी खुद आगे आने से झिझकता है। केवल ऐसे स्वैच्छिक प्रयासों से हम ठीक संख्या जान नहीं पाते। सामान्यतया कुष्ठ रोगी निर्धन और पिछड़े बताए गए क्षेत्रों से आते हैं। बहिष्कार के डर से कई मरीज इसकी

जानकारी भी नहीं देते। इस कलंक को बनाए रखने में ऐसे 16 पुराने कानून भी मददगार हैं जो कुष्ठ के रोगियों के साथ भेदभाव करते हैं। इसमें चुनाव लड़ने पर प्रतिबंध, ड्राइविंग लाइसेंस प्राप्त करने पर प्रतिबंध और ट्रेन से भ्रमण तक प्रतिबंधित है।

अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों ने भी भारत से अपना ध्यान हटा लिया था। उदाहरण के लिए जर्मन कुष्ठ रोग सहायता एसोसिएशन ने बाम्बे कुष्ठ रोग परियोजना को पिछले वर्ष से आर्थिक मदद देना बंद ही कर दिया। श्री पाई का कहना है “धन की कमी के कारण कई बार उपचार में देरी हो जाती है। इसी प्रकार जागरूकता शिविर आयोजित करने के लिए भी हमारे पास धन की कमी है।”

संभव है कि मंत्रालय इस संबंध में दिल्ली और राजस्थान से सबक ले जहां कि दर में कमी आई है। राजस्थान में इसकी प्रचलित दर घटकर प्रति 10 हजार व्यक्ति के पीछे मात्र 0.16 रह गई है। राज्य ने ग्रामीण इलाकों में कुष्ठ रोगियों की पहचान के लिए ‘आशा’ कार्यकर्ताओं को भरोसे में लिया है। एक कुष्ठ रोगी की पहचान पर आशा कार्यकर्ता को 400 रुपए भी दिए जाते हैं।

दिल्ली के कुष्ठ रोग मिशन अस्पताल के त्वचा रोग विशेषज्ञ एस. पी.के. अर्थिया का कहना है ‘मल्टी ड्रग थेरेपी से कुष्ठ रोगी 6 से 12 महीनों में

आसानी से ठीक हो सकते हैं। अब इसका इलाज बिलकुल कठिन नहीं है। इस बीमारी के बारे में जागरूकता बढ़ाने और मरीजों की पहचान कर उनको पूरे समय निगरानी में रख पूरी खुराक देने की व्यवस्था करना जरूरी है। रोग समाप्ति की घोषणा से आत्ममुग्ध होने के बदले हर स्तर पर सजगता जरूरी है।

### अंकुर पालीवाल

## राजस्थान का बीज बचा

राजस्थान सरकार ने चार नवंबर, 2011 को सात बीज कंपनियों को बुलाकर यह 'बुरी खबर' दी कि पिछले वर्ष उनके साथ हुए समझौते को रद्द किया जा रहा है। 15 महीनों तक पशोपेश में पड़े रहने के बाद अंततः राज्य सरकार ने इस समझौते को राज्य के किसानों और खेती के लिए नुकसानदेह मानकर यह फैसला लिया है। निजी कंपनियों और विभागों के बीच हुआ यह सार्वजनिक समझौता काफी व्यापक था। इसके दूरगामी परिणाम भी निकलते। खासकर अमेरिका की मांसेंटो कंपनी के लिए, जो कि दुनिया की सबसे बड़ी बीज और बायो टेक्नॉलॉजी की कंपनी है।

यह सहमति पत्र जुलाई 2010 से प्रारंभ हुआ था। विश्व की दो प्रमुख कृषि बायोटेक कंपनियों— मांसेंटो और पीएचआई सीड्स लिमिटेड की भारतीय

प्रतिनिधि के मध्य यह समझौता हुआ था। इस मामले में अन्य प्रमुख भारतीय बायोटेक बीज कंपनियां थीं: एडवंट इंडिया जे.के. एग्रीजेनेटिक्स, डीसीएम श्रीराम कंसालिडेटेड, कृषि धन सीड्स और कंचन ज्योति एग्रो इंडस्ट्रीज। बेयर बायो साइंस प्रा. लि. विशाल जर्मन फर्म बेयर क्रॉप साइंस की भारतीय सहायक कंपनी है। उसे भी इसमें शामिल होना था। लेकिन पहले वाली सात कंपनियों के साथ हो रहे विवाद के कारण इस पर इस कंपनी के हस्ताक्षर नहीं हो पाए थे।

यह समझौता एक तरह से चुपचाप लागू हो गया था। पर सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायर्नमेंट संस्था की पत्रिका ने इस बारे में जानकारी दी तो हड़कंप मचा। इसमें रहस्योद्घाटन किया गया था कि निजी क्षेत्र को राज्य की शोध सुविधाओं तक की पहुंच की अनुमति देने के साथ ही साथ उन्हें उनके हार्डब्रीड बीजों और अन्य तकनीकों के लिए शर्तिया बाजार भी उपलब्ध कराया जा रहा है। यह किसी भी राज्य सरकार द्वारा की गई अपनी तरह की पहली पहल थी। इसके अंतर्गत राजस्थान राज्य के चार कृषि विश्वविद्यालयों के साथ ही साथ राज्य के कृषि और बागवानी विभाग को भी भागीदार बनाया गया था। इस विचित्र समझौते से कृषि के पूरे स्वरूप के ही बदल जाने की आशंका थी। इस तरह के समझौते से किसानों पर पड़ने वाले प्रभावों को



लेकर भी कई प्रश्न उठे।

उत्तेजित किसानों ने मार्च में विधान सभा के सामने प्रदर्शन कर इस सहमति पत्र को रद्द करने की मांग की। इसी दौरान कुछ गैरसरकारी संगठनों ने भी विरोध दर्ज तो कराया लेकिन वे इसे मात्र मासैंटो विरोधी संघर्ष के रूप में देख रहे थे।

राजस्थान सरकार के एक वरिष्ठ अधिकारी ने बताया कि हम इस सहमति पत्र को भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद की सलाह पर रद्द कर रहे हैं। इसमें कहा गया है कि हमें इस तरह के समझौते के क्रियान्वयन के पहले निजी और सार्वजनिक भागीदारी के संबंध में एक मार्गदर्शिका बनाए जाने तक इंतजार करना चाहिए। उन्होंने इस संबंध में अनेक कृषि विशेषज्ञों की राय जानने की कोशिश की थी। इसमें एम.एस. स्वामीनाथन भी शामिल हैं। लेकिन कहीं से कोई स्पष्ट जवाब नहीं आया। फिर तो इस समझौते का विरोध भी बढ़ने लगा। एक ओर प्रभावशाली राजनीतिज्ञ तथा किसान संगठनों का समूह साझा मंच था तो दूसरी ओर बायोटेक उद्योग था। अंततः सरकार ने कृषि अनुसंधान परिषद का दरवाजा खटखटाया।

परिषद ने सहमति पत्र की गंभीर समीक्षा के बाद राजस्थान सरकार के

कृषि निदेशक को जो जवाब भेजा उससे स्पष्ट था कि विदेशी कंपनियों के साथ हस्ताक्षरित सहमति पत्र को तुरंत ही रद्द किया जाना चाहिए। इसमें कहा गया है कि राज्य सरकार विदेशी कंपनियों के साथ शोध और विकास संबंधित कोई भी समझौता बिना कृषि अनुसंधान और शिक्षा विभाग की अनुमति के नहीं कर सकती। कृषि अनुसंधान एवं शिक्षा विभाग केन्द्र के कृषि मंत्रालय के अंग हैं।

परिषद ने राजस्थान को कृषि अनुसंधान में निजी कंपनियों के साथ गठबंधन के प्रति सतर्क करते हुए कहा है कि अभी तक इस तरह की निजी और सार्वजनिक भागीदारी को लेकर कोई प्रक्रिया नहीं बनी है।

राजस्थान के लिए परिषद की सलाह राहत देने वाली है। एक वरिष्ठ अधिकारी ने स्वीकार किया है कि इस सहमति पत्र पर हस्ताक्षर एक भूल थी। उनका कहना है कि कंपनियों की रुचि केवल उनके बीज बेचने में है न कि अनुसंधान में। सहमति पत्रों के क्रियान्वयन में उनकी तरफ से कोई बहुत प्रस्ताव भी नहीं आए थे। ऐसे में हमें इन समझौतों पर जोर देने में कोई तुक नजर नहीं आई।

गलती ठीक हो गई है। राज्य की बीज संपदा फिलहाल तो बच गई है।

**लता जिशनु**



# पत्र

यह पत्र बहुत पहले लिखना चाहिए था। पर एक तो दूर-देहात और फिर लिखने की कोई आदत भी नहीं है। इसलिए इतनी देरी हो गई। पर जो बात लिखनी थी, वह पुरानी तो पड़ी नहीं है, बल्कि और नई हो गई है इस बीच।

गांधी-मार्ग मई-जून 2011 के अंक में लेख 'इस नदी में जंग लगेगी' पढ़ा था। यह लेख उस समय लिखा गया था जब लीबिया के राष्ट्रपति कर्नल गद्दाफी की निर्मम हत्या नहीं की गई थी। गद्दाफी ने लीबिया की सत्ता संभालने के बाद जनहित के अनेक काम किए थे। उनमें एक बड़ा काम यह भी था कि कोई 10 लाख वर्ष पुराने रेगिस्तान में मीठे पानी की शकल में छिपा हुआ अमूल्य खजाना। हजारों लोगों की मेहनत व भागीरथ प्रयास के बाद लीबिया की जनता को खोद कर दे दिया था।

यह एक सचार्ई है कि जितना कीमती खजाना होगा उसका चोर या डकैत भी उतना ही ताकतवर होता है। लीबिया में कुदरत का दिया हुआ अमूल्य खजाना तेल की शकल में पहले ही था। इसके बाद मीठे पानी का खजाना भी मिल गया। इन दोनों खजानों की

रखवाली भी ताकतवर होनी चाहिए। जो कि नहीं हुई। जो रखवाली थी, वह घर के भेदी के कारण खत्म हो गई थी।

इस लेख के लेखक को इसका आभास हो गया था कि लीबिया में सत्ता परिवर्तन होगा ही और इस नदी के पाईप जो कि सैकड़ों किलोमीटर के फासले से पानी की धारा को खेतों तक पहुंचा रहे हैं, उनका भी बुरा हाल हो जाएगा।

लेखक की वह आशंका इस बीच सही सबित हुई है। लीबिया में सत्ता परिवर्तन हो चुका है। अब यह देखना है कि लीबिया की नई सरकार क्या इस नदी को जंग लगने से बचा पाएगी?

मैं गांधी-मार्ग का नियमित पाठक हूं, जब भी मुझे अंक मिलता है, मैं खुद इसे पूरी तरह पढ़ता हूं और अपने दोस्तों को भी पढ़ाता हूं। जब भी मैं सफर में जाता हूं तो गांधी-मार्ग का ताजा अंक अपने साथ रखता हूं। इसे मैं वहां अपने दोस्तों को, रिश्तेदारों को पढ़ाता हूं।

मैं उस इलाके से हूं जहां हम मुसलमानों (मेवों) की आबादी ज्यादा है। सन् 1947 में जब देश आजाद हुआ

था तो हम मेवाती मुसलमानों पर मुसीबत का पहाड़ टूट पड़ा था। हमें कहा गया था कि पाकिस्तान चले जाओ। लेकिन मेवात का मेव तो जमीन से जुड़ा हुआ किसान था। मेवों ने कहा कि हम अपनी मातृभूमि नहीं छोड़ेंगे, चाहे हमारी जान चली जाए।

ऐसे उस माहौल में जबकि मेवों को अपनी मातृभूमि को छोड़ने का खतरा बराबर बना हुआ था, बापू 19 दिसंबर 1947 को हमारे इलाके मेवात के एक गांव घासेड़ा में आए थे और उन्होंने लोगों से कहा कि तुम पाकिस्तान मत जाओ। यही तुम्हारा मुल्क है। तुम यही रहो। इतना सुनते ही लोगों में खुशी की लहर दौड़ गई थी। हमें मन की मुराद मिल गई थी। हम लोग उजड़ने से बच गए।

आज के दौर में हमें सही दिशा देने में गांधी-मार्ग एक अच्छा किरदार अदा कर रहा है। मेरी दिली तमन्ना है कि गांधी-मार्ग ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुंचे और इसे ज्यादा से ज्यादा लोग पढ़ें ताकि हम और हमारा समाज और अच्छा बन सके।

इब्राहीम खां, पूर्व सरपंच,  
गांव बघौला डा. हिरवाड़ी, तहसील फिरोजपुर  
झिरका, जिला-मेवात-122104, हरियाणा।



सितंबर-अक्तूबर अंक। पत्रिका पढ़कर हर बार विस्मय से भर जाता हूँ कि जो सामग्री इसमें छपती है—(लेख, स्तंभ, टिप्पणियां और पत्र भी) वह छोटे

पैमाने पर ही सही, मगर वैचारिक क्रांति का सूत्रधार क्यों नहीं बनती आखिर? पोथी पढ़ि-पढ़ि में प्रस्तुत 'मरघट तक जिंदा है बाजार' और टिप्पणियों में 'विकास बनाम विकास' विशेष रूप से और वैसे तो सभी लेख मन को इतना उद्वेलित कर देते हैं कि खून खोलने लगता है।

हम इन चेतावनियां को अनदेखा क्यों कर रहे हैं? इसे मेरी क्षुद्र बुद्धि समझ नहीं पाती भाई। क्या हम इन सबको गंभीरता से नहीं पढ़ते? पढ़े हुए को अंदर जाने से रोकते हैं? चारों ओर हो रहे गलत कामों को, चारों ओर दिख रही गलत बातों को दरगुजर करने की जो आदत हमने बना ली है—क्या यह सब उसका परिणाम है? व्यवस्था यह जानती है कि असहायता बोध उसे बनाए रखने का एक मजबूत तरीका है। गहन मंथन करके निरपवाद प्रकार के किसी तंत्र का स्वरूप निर्धारित कर भी लिया जाए तो निहित राजनैतिक स्वार्थ अपने कान बहरे कर लेता है।

कोई निदान है इसका?

भगवान अटलानी,  
डी-183, मालवीय नगर, जयपुर-302017



गांधी-मार्ग का सितंबर-अक्तूबर अंक इस मायने में अनुपम है कि सात सितंबर को विनोबा का जन्म दिवस था और दो अक्तूबर को बापू का। और लो दोनों को याद करने का ऐसा अनोखा

तरीका: विनोबा का गांधीजी के बारे कहर बरपाता लेख। इस लेख को पढ़कर ही लगता है कि एक सागौन ही दूसरे सागौन की गहराई-ऊंचाई बयान कर सकता है। विनोबा का लेख बताता है कि सादगी से बड़ी कोई खूबसूरती और गहराई नहीं होती। आजादी का विराट आंदोलन चलाते हुए भी बापू कैसे पेट दर्द की दवा बताते थे, कैसे पति-पत्नी की कलह निपटाते थे। मां सरस्वती का हंस ही बता सकता है कि मां की वाणी की ऊंचाई और गहराई क्या है। पिछले 64 वर्षों की राष्ट्रीय तथा स्थानीय राजनीति के पास अपने लोक के लिए कोई नीति नहीं रही। इधर विनोबा कह रहे हैं कि बापू के पास राजनीति नहीं बल्कि लोकनीति थी। लेकिन आज बापू के पोस्टर, स्टिकर और बैनर टी शर्ट बेचकर आगे बढ़ी पार्टियों के पास लोक उजाड़ नीतियों के अलावा भविष्य की कोई योजना नहीं दिखती।

गांधी-मार्ग का पाठक बनने से पहले मैंने विनोबा को ज्यादा पढ़ा नहीं था। लेकिन संपादन की जिस कुशलता के साथ नए पाठकों को ध्यान में रखकर विनोबा को 'गांधी-मार्ग' में पेश किया जा रहा है, उसके लिए पत्रिका सेल्यूट की हकदार है। इन लेखों को पढ़कर इतना तय है कि कुछ नए पाठक किसी न किसी पुस्तकालय में गांधी और विनोबा की धूल फांकती किताबों तक अवश्य पहुंचेंगे।

एक बच्चे की आंख में मां का

ममतामय ब्रह्मांड काका कालेलकर जैसा भव्य पुरुष ही देख सकता है। सुधांशु भूषण जी का लेख संसार के सबसे बड़े लाला अमेरिका के विचित्र स्वभाव की पराकाष्ठा बयान करता है। कुसुम कार्णिक का लेख 'लकड़ी का टाल नहीं है जंगल' उन सरकारों तथा गैर सरकारी संगठनों को आईना दिखाता है, जिन्होंने देश का पेट पालने वाली बड़ी आबादी को सुनने, गुनने और समझने का प्रयास नहीं किया। विकास का दावा करती नीतियों ने बिना छठे तत्व का विकल्प पैदा किए, पंचतत्व उजाड़ दिए हैं और न दाएं-बाएं वाले विचारों ने ही ऐसा कोई सहज विकल्प दिया, जिसके संग देश की बड़ी आबादी रह सके। आज जब अधिकतर संपादक अपनी सनक के लिए पत्रिका निकालते हों, एक से बढ़कर एक भट्टे अंक, विशेषांक निकाले जा रहे हों तो ऐसे में गांधी-मार्ग फेफड़ों को ताकत देता है तथा पैरों को एक निश्चित दिशा में मोड़ता है।

सुरेन्द्र बांसल,  
1023, सेक्टर-38 बी,  
पहली मंजिल, चण्डीगढ़-36



गांधी-मार्ग का द्वैमासिक प्रकाशन चेतावनी के रूप में पढ़ने में आता है। वर्धा से जिनका आत्मीय संबंध रहा है, उन्हें तो सारे लेख उस दुनिया में वापस ले जाते हैं, जो आज सपना मात्र है।

तथापि व्यक्तिगत तौर पर और छोटे समूहों में बहुत कुछ करने, अपनाने

और आगे बढ़ाने योग्य है।

सोपान जोशी का लेख जल थल और मल बहुत अच्छा लगा। अपर्णा पल्लवी का लेख 'टीपू सुलतान का मीठा उपहार' भी बहुत अच्छा लगा। उनसे किरजावल गांव और सहज समृद्ध संस्था के बारे में भविष्य में और भी कुछ जानने मिलेगा। वे टोपला नी जगा की समस्या तो हर शहर में मौजूद है।

भवानी दादा की मधुर स्मृतियों में।

सुखदेव लड्डा,  
श्रवण संचार, खरी फाटक रोड,  
विदिशा-464001 मध्य प्रदेश।



एक बार पुनः जुलाई-अगस्त पूर्व अंकों की भांति संग्रहणीय है। गांधीजी की फांस में फंसे लेख में जहां लेखक ने गांधीजी के प्रतिष्ठित और लोकप्रिय नेता बनने की यात्रा का सूक्ष्म चित्रण किया है, वहीं कम से कम मुझ जैसे गांधी पथ के अनुसरणकर्ता को यह जानने का अवसर दिया है कि गांधीजी पर गीता, रामायण, जैन, बौद्ध, बाइबल, कुरान, टाल्सटॉय, रस्किन आदि के अतिरिक्त प्राणजीवन मेहता का भी विशिष्ट प्रभाव था। निश्चित ही गांधी के गांधी बनने में इस अल्पख्यात व्यक्ति का योगदान कहीं भी कमतर नहीं है। लेखक श्री श्रीराम मेहरोत्रा को धन्यवाद, इस लगभग अज्ञात पक्ष को सामने लाने के लिए।

सुदर्शन आर्यंगार के लेख 'कौन जीतेगा? मशीन या मन' ने तो हमारा

मन जीत लिया। यदि गांधीजी होते तो वे आधुनिक तकनीक के संबंध में क्या रुख अपनाते? यह प्रश्न एक बार पुनः गांधीजी की प्रासंगिकता पर चर्चा के लिए प्रेरित करता है। लेख में इतनी समीचीन बातें उठाई गई हैं कि मन में हलचल पैदा होती है।

नदियों के प्रदूषण का एक कारण निश्चित ही शौचालयों से निकला दूषित जल है। जल, थल और मल लेख में श्री सोपान जोशी ने केवल समस्या ही नहीं, शौच निवारण के परंपरागत तरीके की तरफदारी भी की है। इसमें शौच का मल स्वयमेव खाद में परिवर्तित हो जाता है। साथ ही उसकी वर्तमान अप्रासंगिकता को स्वीकारते हुए इकोसन शौचालय का विकल्प प्रस्तुत किया है। निश्चित ही ये भू-उर्वरकता बढ़ाने में और नदियों को प्रदूषण मुक्त करने के लिए कारगर कदम होगा। इसके लिए हम सभी को जन जागरूकता पैदा करने का प्रयास करना होगा। टीपू सुलतान का मीठा उपहार आम की विभिन्न किस्मों को सहेजने का काम किरजावल के सैयद गनी ने कर लिया, क्योंकि वे उन्हें संरक्षित करने के लिए कृत संकल्पित थे। सरकारी सहायता प्राप्त करने के उनके प्रयास आंशिक सफल रहे। वे प्रेरणा देते हैं कि ऐसी कितनी ही ऐतिहासिक धरोहरों को सहेजने का हमें प्रयास करना है। जी. भ. कृपलानी ने जन्माष्टमी के माध्यम से एक आम धर्मप्राण व्यक्ति की पीड़ा

को अभिव्यक्त किया है। लगभग सभी प्रसिद्ध धार्मिक स्थलों में अपने इष्ट के दर्शन के लिए गए श्रद्धालुओं के साथ यही अव्यवस्थाएं उसकी आस्था को ठेस पहुंचाती हैं। कितने-कितने दूर से विषम परिस्थितियों में श्रद्धालु लंबे इंतजार के बाद से दर्शन के लिए आता है और उसे एक क्षण भी मनोयोग से दर्शन लाभ नहीं होता। पोथी पढ़ि पढ़ि का लेख बे टोपला नी जगा में इला भट्ट ने जिस फुटपाथी बाजार और जिन महिला विक्रेताओं की समस्या को उठाया है, मुझे तो लगता है वह समस्या समूचे देश के शहरों में नगर प्रशासन द्वारा फैलाई जा चुकी है। सेवा जैसे संगठन हरेक शहर में नहीं हैं। इन फेरीवालों व फुटपाथ पर दो टोकरी जगह लेने वालों की सहायता के लिए कौन आगे आएगा भला?

अखिलेश्वर प्रसाद दुबे,  
दर्शनशास्त्र विभाग, हरिसिंह  
गौर विश्वविद्यालय, सागर, मध्य प्रदेश।



गांधी-मार्ग निःसंदेह परम सुख शांति और कल्याण का मार्ग है। इसको पढ़कर जीवन को दिशा मिलती है, जीवन जीने के कला हाथ लगती है और अपने कर्तव्यों का भी बोध होता है। गांधी, विनोबा तथा जे.पी. उदात्त एवं उर्ध्वगामी जीवन पथ के पथिक रहे हैं। उनके जीवन मूल्यों को आत्मसात करना सदैव कल्याणकारी है। इन्होंने लोगों को सादगी, सत्य, सदाचार,

अपरिग्रह, मितव्ययिता और परोपकार आदि जीवन मूल्य अपनाने की सीख दी।

लेकिन आज हम देखते हैं कि लोग अपने सिर पर बेलगाम महत्वकांक्षाओं का बोझ लादे नाहक ही दिशाहीन दौड़ रहे हैं। जीवन की रफ्तार बहुत तेज हो गई है। आत्मघाती होने की हद तक। ठहरकर सोचने की फुर्सत किसी के भी पास नहीं है। ऐसे भयावह परिदृश्य में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जीवन जीने की गति-सीमा आखिर क्या होनी चाहिए?

एक मामूली-सा युवक हूं मैं। सम्प्रति जिलाधिकारी कार्यालय बुलंदशहर में नौकरी कर रहा हूं। स्वाध्याय, लेखन, चिंतन, मनन का शौक है। गांधी व विनोबाजी के विचारों से बहुत प्रभावित हूं। गौतम बुद्ध की ध्यान-साधना पद्धति विपश्यना में आस्था है।

नौ साल बाद 20 साल सरकारी सेवा पूरी करने के उपरांत स्वैच्छिक सेवा निवृत्ति लेकर अध्यापन, पत्रकारिता, साहित्य सृजन, जनसेवा जैसे कामों से जुड़ने की हसरत दिल में पाले बैठा हूं।

मुकेश कुमार 'निर्विकार',  
म.नं. 2/29, डी.एम. कॉलोनी,  
बुलंदशहर- 203001 उत्तर प्रदेश।



गांधी-मार्ग के जुलाई-अगस्त का अंक मुझे एक लंबी आयु वाले संवाद के सुंदर दोमासे की तरह आ मिला है। आज के समाज में स्वानुशासन की

प्रवृत्ति जगाने में गांधी-मार्ग निश्चित ही सामूहिक मंत्र और अनुष्ठान दोनों का भाव देता है।

श्री सुदर्शन आयंगर के लेख 'कौन जीतेगा? मशीन या मन' की अनुगूँज मैंने गत वर्ष गुजरात विद्यापीठ के छोटे से दौरे पर पाई थी। आज इस लेख का हर शब्द एक तीव्र झंकार के साथ हमारे में आई इस विकराल समस्या को चिन्हित कर दे रहा है। प्रौद्योगिकी के साथ जीने के लिए स्वानुशासन का तंत्र कैसे बनाया जाए, यह बात आज हमें ऐसे ही समाज शिल्पी सुझा सकते हैं।

कैसे भक्तिमार्ग को नई राह मिले? जन्माष्टमी में कृपलानीजी की गहरी आवाज ने और धरम-करम के लिए संवेदनशील, निष्पक्ष विवेचना ने बहुत कुछ ऐसा दिया, जो मुझे अभी हाल में हुई अगस्त की अपनी वृंदावन यात्रा में नहीं मिल पाया था।

श्री सोपान जोशी के लेख 'जल, थल और मल' ने आशा जगाई है कि अभी भी नवाचार के साथ हम आज के मैला प्रबंधन की एक गंभीर, अमानवीय स्थिति से उबर सकते हैं। इस तीर्थ जैसे लक्ष्य को पाने में हर संभव संवाद-स्रोत, संसाधन, निदान बड़ी उदारता से, बेझिझक ढूँढे जाने चाहिए। इस विषय में प्रोत्साहन के लिए व्यवसाय के साथ-साथ जीवन की गरिमा, उत्कृष्टता और गुणवत्ता भी बदलाव के बहुत

प्रभावकारी कारक होंगे। जन चेतना, आत्मबल वैसे ही जगाने होंगे जैसे इला बहन की दो टोकरियों वाली फुटपाथ की आवाज 'बे टोपला नी जगा' से जगे हैं। यह लेख किसी भी मौलिक परिवर्तन के लिए या आम जन के लिए छोटी-सी जगह हासिल करने में एक क्रांतिकारी चिंतन को प्रोत्साहित करता है।

पम्पोश कुमार,  
बी-213, प्रगति विहार,  
लोधी रोड, नई दिल्ली-110 003



सितंबर-अक्तूबर अंक पढ़ने को मिला। इसकी सारी सामग्री में सर्वजनहिताय की निष्ठा का दर्शन कर बहुत सुख मिला। यह दृष्टि इस बाजारवादी युग में विरल हो रही है।

अंक की सभी रचनाएं उत्तम हैं। इनमें जो सर्वाधिक प्रिय लगीं, वे हैं: 'क्रांति और शांति का संगम'- विनोबा, 'मरघट तक जिंदा है बाजार- सुधांशु भूषण मिश्र तथा अंत में दी गई टिप्पणियां। आधुनिक अर्थव्यवस्था का दैत्य किस तरह निर्धनों और विशेषकर बनवासी समाज के सर्वस्व को हड़पने बढ़ता आ रहा है— यह अत्यंत चिंताजनक और विचारणीय है। उक्त दिशा में जागृति उत्पन्न करने का महत् कार्य पत्रिका कर रही है। हार्दिक बधाई

शशिभूषण सिंहल,  
72, कपिल विहार,  
पीतमपुरा, दिल्ली-110 034





गांधी-मार्ग को  
एक नए घर की जरूरत है ।  
यदि आप अपने जैसा ही एक पाठक और घर जानते हों  
तो हमें उनका नाम पता भेजने की कृपा करें ।  
हम उन्हें गांधी-मार्ग के कुछ अंक लगातार भेजेंगे ।  
हमें आशा है कि उन्हें आपकी तरह ही गांधी-मार्ग  
पसंद आएगा ।  
और इस तरह गांधी-मार्ग को सचमुच एक नया घर  
मिल जाएगा ।

---